हिन्दी आलोचना में नवजागरण संबंधी विवाद

(एम. फिल. उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध)

शोध निर्देशक
डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोधकर्त्ता
निजिलिंगप्पा

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110 067
1996

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067

प्रमाण-पत्र

दिनांक: 19/7/96

प्रमाणित किया जाता है कि श्री निजिलिंगप्पा द्वारा प्रस्तुत "हिन्दी आलोचना में नवजागरण संबंधी विवाद" शीर्षक लघु-शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य विश्वविद्यालय में इससे पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है ।

यह लघु शोध प्रबन्ध श्री निजिलिंगप्पा की मौलिक कृति है ।

(एस० आर० किदवई)
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली - 110067

(पुरुषोत्तम अग्रवाल)
शोध-निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली - 110067

.....

GRAM : JAYENU TEL. : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

अनुक्रम

	पृ. सं.
भूमिका	क - ग
अध्याय एक	
नवजागरण की अवधारणा अखिल भारतीय बनाम हिन्दीपन	1- 23
अध्याय दो	
बुद्धिवाद और रहस्यवाद	24 - 46
अध्याय तीन	
ऐतिहासिक संदर्भ सामाजिक आधार	47 - 83
अध्याय चार	
मूल्यांकन जारी है	84 - 105
संदर्भ ग्रन्थ	I - IV

भूमिका

उन्नीसवीं शताब्दी भारत के इतिहास में नये युग का प्रस्थान बिंदु है । इस दौरान देश भर में सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए बड़े पैमाने पर बौद्धिक-विमर्श की शुरूआत हुई, जिसके माध्यम से अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरुद्ध चेतना जगाने के साथ-साथ भारतीय समाज में प्रचलित कुरीतियों, धार्मिक बाह्याडम्बर, जातिगत असमानता आदि पर जमकर प्रहार किया गया । इससे समाज में व्यापक परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई, जो किसी न किसी रूप में आज भी जारी है । हिन्दी क्षेत्र में भी इस दौरान सामाजिक तथा सांस्कृतिक जागरण की प्रक्रिया आरंभ हुई, जिसके अगुवा बने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र । मगर इस विषय पर हिन्दी आलोचना में मेरी जानकारी में रामविलास शर्मा से पहले किसी ने महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया । महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण (1977) नामक पुस्तक के माध्यम से डा० रामविलास शर्मा ने ही सर्वप्रथम हिन्दी नवजागरण का सैद्धांतिक ढाँचा प्रस्तुत किया । डा० रामविलास शर्मा के इस विवेचन पर आरंभ से ही हिन्दी आलोचना जगत में विवाद रहा । नवजागरण संबंधी बहस में इस मुद्दे पर डा० नामवर सिंह, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी डा० मैनेजर पाण्डेय, श्री विष्णुकान्त शास्त्री, डा० शंभुनाथ इत्यादि विद्वानों ने विचार किया; जिसमें नवजागरण की अवधारणा को विभिन्न रूपों में देखने की कोशिश की गयी है ।

"हिन्दी आलोचना में नवजागरण संबंधी विवाद" विषय के माध्यम से मैंने उपर्युक्त विद्वानों के दृष्टिकोण का विश्लेषण परक अध्ययन करने की कोशिश की है । इसमें मेरा मुख्य बल नवजागरण के अखिल भारतीय स्वरूप पर है, इस क्रम में बंगाल तथा महाराष्ट्र के नवजागरण से तुलना करके मैंने हिन्दी नवजागरण के स्वरूप का विवेचन और निर्धारण करने का प्रयास किया है ।

इस विषय का विश्लेषण चार शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है । अध्याय एक में, "नवजागरण की अवधारणा अखिल भारतीयता बनाम हिन्दीपन" शीर्षक के अन्तर्गत नवजागरण के अखिल भारतीय स्वरूप के साथ-साथ "हिन्दी-क्षेत्र" के नवजागरण की कुछ अपनी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है ।

अध्याय दो में, "बुद्धिवाद और रहस्यवाद" शीर्षक के अन्तर्गत; हिन्दी नवजागरण में वैचारिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया का विश्लेषण करने के साथ-साथ इस दोनों प्रवृत्तियों को हिन्दी में बाहर से आयी बुराई के रूप में देखने के बजाय इसके माध्यम से हिन्दी नवजागरण में आयी प्रगतिशील चेतना को दर्शाने की कोशिश की गयी है ।

अध्याय तीन में, "ऐतिहासिक संदर्भ सामाजिक आधार" शीर्षक के अन्तर्गत भारत में अंग्रेजी उपनिवेशवाद की दमनकारी तथा शोषणात्मक नीतियों को दिखाया गया है, जिसकी प्रतिक्रिया में जनजागरण की शुरूआत हुई । इसी अध्याय में विभिन्न क्षेत्रों में नवजागरण के सामाजिक आधार का भी विश्लेषण किया गया है ।

अध्याय चार में, "मूल्यांकन जारी है" शीर्षक के अन्तर्गत हिंदी नवजागरण के विश्लेषण में उठाये जा रहे कुछ अद्यतन सवालों यथा हिन्दी-उर्दू का विभाजन, हिन्दी नवजागरण में स्त्रियों तथा शूद्रों की स्थिति तथा वर्तमान में हिन्दी नवजागरण को कुछ विद्वानों द्वारा दिये जा रहे अलग स्वरूप का भी विश्लेषण किया गया है । साथ ही इस शोध के निष्कर्ष तक पहुंचने की कोशिश है ।

यह कार्य मेरे लिए चुनौतीपूर्ण रहा । इस विवाद में मुझे दो जुवान्तों से होकर गुजरना पड़ा ; जिसमें सामंजस्य बैठाना मेरे

लिए काफी मुश्किल था, इस कठिन कार्य में गुरुवर डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपने महत्वपूर्ण सुझावों से मेरी मुश्किल को दूर करने में बहुत मदद की, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं ; साथ ही उन्होंने मुझे इस कार्य को करने में पूरी स्वतंत्रता प्रदान कर मुझे पैधारिक रूप से मुक्त रखा । मैं मित्रों का भी आभारी हूं ; जिन्होंने जितना बन सका मेरी मदद की । विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूं, जिसकी आर्थिक सहायता के बिना शायद यह संभव नहीं हो पाता ।

...

अध्याय - एक

नवजागरण की अवधारणा : अखिल भारतीयता बनाम हिन्दीपन

नवजागरण की अवधारणा : अखिल भारतीयता बनाम हिन्दीपन

I

उन्नीसवीं शताब्दी का काल भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस दौरान देशभर से राष्ट्रीय पुनर्गठन के लिए अनेक बौद्धिक धाराओं का उदय हुआ । जिससे सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तन की प्रक्रिया आरंभ हुई । परिवर्तन की इस प्रक्रिया को इतिहास में "नवजागरण" के नाम से जाना जाता है । उन्नीसवीं शताब्दी के इस परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए हिन्दी में और भी शब्द प्रचलित हैं यथा — नवोत्थान, पुनरूत्थान इत्यादि । उन्नीसवीं शताब्दी का यह सामाजिक सांस्कृतिक जागरण क्योंकि सर्वप्रथम बंगाल से शुरू हुआ, इसलिए इसे प्राय: बंगाल नवजागरण के नाम से ही इतिहास में जाना जाता है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उदय के साथ हिन्दी में नये युग का आरम्भ हुआ, यह मान्यता तो बहुत पहले से प्रचलित रही है । किंतु इस नये युग को हिन्दी में "नवजागरण" नाम देने का श्रेय डा. रामविलास शर्मा को है । अपनी पुस्तक "महाबीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण 1977 के माध्यम से उन्होंने न केवल नवजागरण बल्कि हिन्दी नवजागरण की संकल्पना प्रस्तुत की । अभी तक इसकी चर्चा प्राय: "बंगाल नवजागरण" के सम्बन्ध में ही होती रही । डा. रामविलास शर्मा की नवजागरण सम्बन्धी अवधारणा हिन्दी आलोचना में विवाद का विषय रही है । रामविलास जी की पुस्तक प्रकाशित होने के साथ ही इसके समर्थन और विरोध में हिन्दी के अनेक आलोचकों ने स्वतंत्र लेख लिखकर या पुस्तकों के माध्यम से नवजागरण सम्बन्धी इस बहस को आगे बढ़ाया । इसमें मुख्य रूप से नामवर सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी,

विष्णुकान्त शास्त्री, मैनेजर पाण्डेय, शम्भुनाथ आदि का नाम लिया जा सकता है । इससे "नवजागरण" सम्बन्धी बहस पर अब धीरे-धीरे एक सहमति बनती दिखाई देती है, मगर अभी भी कुछ मुददे ऐसे हैं जिस पर विद्वान एकमत नहीं हैं ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं नामक पुस्तक के तीसरे संस्करण की भूमिका में डा. रामविलास शर्मा ने नवजागरण शब्द बंध को स्पष्ट करने की कोशिश की है । उन्होंने लिखा है "यह शब्द बंध नया है धारणा पुरानी थी ।"[1] यहाँ पुरानी धारणा से नामवर सिंह का तात्पर्य "रिनेसास" से है । पुनर्जागरण "रिनेसास" और नवजागरण के बीच अन्तर न कर पाने के कारण लोग अभी कुछ दिन पहले तक शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं । आलोचना के सम्पादकीय में इस पर विस्तार से लिखकर नामवर सिंह ने यह बात स्पष्ट कर दी है । पादरी एफ. ई. के और राजा राम-मोहन राय का उदाहरण देते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि वे कैसे उन्नीसवीं सदी के नवजागरण को "रिनेसास" से जोड़ते थे । राजा राम मोहन राय ने एक बार पादरी अलेग्जेंडर एफ से कहा था "मुझे ऐसा लगने लगा है कि यहाँ भारत में यूरोपीय "रिनेसास से मिलता जुलता कुछ घटित हो रहा है ।" मगर स्वयं नामवर सिंह उन्नीसवीं सदी के भारतीय नवजागरण को रिनेसास नहीं मानते । उन्होंने लिखा है — "उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण को रिनेसास कहने में एक कठिनाई तो यही है कि इस युग के भारतीय विचारकों और साहित्यकारों के प्रेरणास्रोत यूरोप के पंद्रहवीं सदी के चिंतक और साहित्यकार न थे । बल्कि इसके

विपरीत प्रेरणा स्रोत के रूप में अधिकांश विचारक उस काल के थे जिसे यूरोप में "एनलाइटेनमेंट" का काल तथा इसके बाद का काल कहा जाता है ।" .... इस प्रकार भारत का उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण यूरोप के एनलाइटेनमेंट अथवा ज्ञानोदय की चेतना के अधिक निकट प्रतीत होता है । और पंद्रहवीं शताब्दी का नवजागरण रिनसांस के तुल्य । .... संभवत: इस अन्तर को ध्यान में रखकर ही डा. रामविलास शर्मा ने पंद्रहवी शताब्दी के भक्ति आंदोलन के लिए "लोकजागरण" और उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक जागरण के लिए "नवजागरण" शब्द का प्रयोग किया है ।"[2]

इसके विपरीत डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी पुनर्जागरण और नव-जागरण शब्द द्वंद्व में कोई अन्तर नहीं करते । अपनी पुस्तक "हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास" में उन्होंने लिखा है - "मनुष्य की बुनियादी अवधारणा में यह परिवर्तन कैसे होता है । इसे समझने के लिए आधुनिक युगीन मानसिकता का परीक्षण आवश्यक होगा । इस मान-सिकता को सामान्य रूप से पुनर्जागरण या नवजागरण कहकर इतिहास और संस्कृति के संदर्भ में पुकारा गया है । पुनरूत्थान शब्द में कुछ अतीतोन्मुखता झलकती है, अत: उसका प्रयोग यहाँ वांछनीय नहीं ।"[3]

II

महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण (1977) नामक पुस्तक की भूमिका में डा. रामविलास शर्मा ने नवजागरण सम्बन्धी अपनी अवधारणा प्रस्तुत की है । उन्होंने लिखा है "हिन्दी प्रदेश में नवजागरण

1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है । दूसरी मंजिल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग है । हिन्दी नवजागरण का तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है । इस तरह जो नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से आरंभ हुआ, वह भारतेन्दु युग में और भी व्यापक बना, उसकी साम्राज्य-विरोधी सामंत विरोधी प्रवृत्तियाँ द्विवेदी युग में और पुष्ट हुई । फिर निराला के साहित्य में कलात्मक स्तर पर तथा उनकी विचार-धारा में ये प्रवृत्तियाँ क्रान्तिकारी रूप में व्यक्त हुई ।" संक्षेप में डा. रामविलास शर्मा की नवजागरण सम्बन्धी अवधारणा यही है हिन्दी आलोचना में नवजागरण सम्बन्धी लगभग समूचा विमर्श इसी के आस-पास केन्द्रित है । इसके अतिरिक्त चूँकि डा. रामविलास शर्मा की नवजागरण सम्बन्धी अवधारणा हिन्दी जाति की अवधारणा पर आधारित है, इसलिए इसमें एक प्रकार का श्रेष्ठता बोध भी दिखाई देता है । स्वयं रामविलास शर्मा के ही शब्दों में - "हिन्दी नवजागरण मूलत: बुद्धिवादी और रहस्यवाद विरोधी है कुछ समय के लिए रहस्यवादी धारणायें उस पर हावी होती दिखाई देती हैं पर पूरी तरह नहीं । प्रेमचन्द अपनी जगह अडिग रहते हैं और उनका साहित्य अनेक महा-रथियों के सम्मिलित कृतित्व से बढ़कर है । नये रहस्यवाद का मूल स्रोत बंगाल है । औद्योगिकरण और आधुनिक विज्ञान का विरोध करने वाली विचारधारा का स्रोत गुजरात है ।"[4] डा. रामविलास शर्मा की नवजागरण सम्बन्धी उपरोक्त धारणायें आरंभ से विद्वानों के बीच तीखी बहस का मुद्दा रही हैं । इस पर समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है ।

अपने नवजागरण सम्बन्धी विवेचन में डा. रामविलास शर्मा 1857 के स्वाधीनता संग्राम से हिन्दी में नवजागरण की शुरुआत मानते हैं । रामविलास जी ने इस स्वाधीनता संग्राम की छः विशेषताएं गिनायी हैं —

1. यह संग्राम सारे देश की एकता को ध्यान में रखकर चलाया गया ।
2. राजसत्ता की मूल समस्या सामन्तों के हित में नहीं जनता के हित में हल की गयी थी ।
3. इसका सामंत विरोध पक्ष इस संग्राम की तीसरी विशेषता है ।
4. इसका नेतृत्व उन किसानों ने किया जो फौज में सिपाहियों और सूबेदार के रूप में कार्य कर रहे थे ।
5. इस संग्राम की पाँचवी विशेषता है इसका साम्प्रदायिक राष्ट्रीय रूप ।
6. यह संग्राम हिन्दी क्षेत्र में चलाया गया ।[5]

1857 को नवजागरण का प्रस्थान बिंदु मानने से लेकर डा. रामविलास शर्मा द्वारा बतायी गयी उपर्युक्त विशेषताओं में अनेकों अन्तर्विरोध हैं साथ ही आधुनिक इतिहास के शोधों के माध्यम से यह बात भी अब लगभग सिद्ध हो गयी है कि उपर्युक्त विशेषताओं में से अनेक अब तथ्य के रूप में भी स्वीकृत नहीं है । डा. रामविलास शर्मा के 1857 को नवजागरण" का गोमुख मानने के मत का तर्क संगत प्रतिवाद डा. नामवर सिंह ने किया है । नामवर सिंह का मानना है कि -- "हिन्दी नवजागरण की विशिष्टता बतलाने के लिए सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति को उसका बीज मानना अत्यन्त कठिन है । भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के लेखक सन् 1857 की राज्यक्रान्ति की

अपेक्षा बंगाल के उस नवजागरण से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे जो उससे पहले शुरू हो चुका था ।"[6] इसके अतिरिक्त डा. रामविलास शर्मा के इस मत पर कि 1857 का स्वतंत्रता संग्राम नितान्त असाम्प्रदायिक था पर टिप्पणी करते हुए डा. नामवर सिंह ने लिखा है "सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति को हिन्दी नवजागरण का गोमुख मानने में एक कठिनाई यह भी है कि "राज्यक्रान्ति के नितान्त असाम्प्रदायिक पक्ष का संदेश हिन्दी नवजागरण तक पूरा-पूरा नहीं पहुँच सका । हिन्दी नवजागरण के सम्मुख यह गम्भीर प्रश्न है कि यहाँ का नवजागरण हिन्दू और मुस्लिम दो धाराओं में क्यों विभक्त हो गया ?"[7] डा. नामवर सिंह के इस प्रश्न का जवाब अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति में खोजा जा सकता है । यह तथ्य अब सर्वस्वीकृत है कि 1857 की लड़ाई में देश के हिन्दुओं और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष किया । इसके बाद सन् 1860 तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे इस बात की पुष्टि होती हो कि हिन्दुओं और मुसलमानों में आपस में वैमनस्य पैदा हो रहा है । इस बात के भी प्रमाण हैं कि 1860 के बाद गठित की गयी सभी शैक्षणिक संस्थाओं में हिन्दुओं और मुसलमानों ने बराबर का योगदान दिया था । तत्कालीन भारत में मुस्लिम समुदाय के सबसे बड़े नेता और हिमायती सर सैय्यद अहमद खाँ भी 1884 तक हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई भेद नहीं करते थे । 1884 में उन्होंने स्वयं कहा— "क्या आप एक ही देश में नहीं रहते ? क्या एक ही जमीन पर आप का अंतिम संस्कार नहीं होता ? याद रखिए हिन्दू और मुसलमान शब्द सिर्फ धार्मिक अंतर बतलाते हैं अन्यथा सभी लोग चाहे वे हिन्दू हों, या मुसलमान यहाँ तक कि इस देश में रहने वाले इसाई भी इस मामले

में एक ही राष्ट्र के लोग हैं ।"[8] सर सैय्यद की इस प्रगतिशील धारणा को अंग्रेजी उपनिवेशवादियों ने ही अपने लाभ के लिए एक कट्टरपंथी साम्प्रदायिक के रूप में बदल दिया । 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद भारत में उपनिवेशवाद से टक्कर लेने वाली ऐसी संस्था अस्तित्व में आयी जिसकी काट अंग्रेज जल्दी ही खोजना चाहते थे, इसके लिए उन्हें सर सैय्यद जैसा आदमी मिल ही गया, जो कि उस समय कांग्रेस की नीति से खफा थे । जैसा कि इतिहासकार विपिन चंद्र ने ठीक ही लिखा है - "राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना होने के बाद सर सैय्यद अहमद खाँ का स्वर बदल गया और यहीं से साम्प्रदायिकता की पहली झलक दिखाई पड़ने लगी ।"[9] और धीरे-धीरे सैय्यद अहमद भारत को एक राष्ट्र मानने से भी कतराने लगे, और कांग्रेस को उन्होंने एक हिन्दू संस्था कहा । इस तरह धीरे-धीरे साम्प्रदायिकता रूपी दानव ने पूरे भारत को अपने पाश में कर लिया ।

इस संदर्भ में नामवर सिंह का यह मानना कि हिन्दी नव-जागरण की तरह बंगाल और महाराष्ट्र का नवजागरण हिन्दू और मुसलमान दो धाराओं में नहीं विभक्त हुआ, तर्क संगत प्रतीत नहीं होता इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि यहाँ भी इस तरह की समस्याएँ पैदा हुई थीं जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासकार ए आर देसाई बंगाल के सम्बन्ध में बताते हैं "बंगाल जैसे प्रान्तों में ऐतिहासिक कारणों से किसान प्रधानत: मुसलमान थे और जमीदार मुख्यत: हिन्दू । किसानों के सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण सम्प्रदायवादियों के लिए मुसलमान बटाईदारों और हिन्दू जमीदारों के बीच के वास्तविक आर्थिक संघर्ष

को साम्प्रदायिक संघर्ष के रूप में प्रस्तुत और परिणत करना आसान था, इसी कारण हिन्दू महाजनों और मुसलिम कर्जदारों के द्वंद्व कभी-कभी इस तौर पर परिभाषित किये जाते थे मानो वे हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों के शोषण के प्रतिफलन थे और इस तरह इन्हें भी साम्प्रदायवादियों ने साम्प्रदायिक रूप दिया ।"[10] इस प्रकार यह कहना कि अन्य प्रदेशों में इस प्रकार का साम्प्रदायिक विभाजन नहीं था उचित नहीं प्रतीत होता ।

डा. रामविलास शर्मा ने अपनी नवजागरण संबंधी अवधारणा में 1857 के स्वाधीनता संग्राम की भूमिका की जिस रूप में व्याख्या की है उसका अक्षरशः समर्थन करने वाले विद्वानों में विष्णुकान्त शास्त्री का नाम प्रमुख है । धर्मयुग (10 मई 1987) में लिखे एक लेख के माध्यम से उन्होंने डा. नामवर सिंह की उन स्थापनाओं का जोरदार विरोध किया है जिसमें डा. रामविलास शर्मा की मान्यताओं का खंडन किया गया है । डा. नामवर सिंह के इस कथन पर कि "हिन्दी नवजागरण की विशिष्टता बतलाने के लिए 1857 की राज्यक्रान्ति को उसका बीज मानना कठिन है" पर टिप्पणी करते हुए विष्णुकान्त शास्त्री ने लिखा है "1857 के स्वाधीनता संग्राम से हिंदी नवजागरण को प्रारंभ मानना नामवर जी के अनुसार जिन तथ्यों के कारण कठिन है उनमें पहला कि समकालीन शिष्ट साहित्य में उसकी गूँज सुनाई नहीं पड़ती लोकसाहित्य भले ही प्रचुर मात्रा में रचा गया हो" वैसे नामवर जी को इसका अहसास है कि "इसका एक कारण और बहुत बड़ा कारण था राज्य का दमन और दमन से पैदा होते आतंक फिर भी उनके तर्क की भंगिमा है कि 1857 से नवजागरण का प्रारंभ तभी माना जा सकता है जब उससे प्रत्यक्ष सहानुभूति

व्यक्त करने वाली रचनाएँ तत्कालीन शिष्ट साहित्य में प्राप्त हों लोक साहित्य का साक्ष्य इस संदर्भ में बेमानी है ।" इस प्रकार विष्णुकान्त शास्त्री ने लगभग नामवर सिंह के तर्कों पर ही नामवर सिंह की आलोचना की है । वैसे भी नामवर जी की शिष्ट साहित्य वाली बात आज के संदर्भ में तर्कसंगत नहीं लगती क्योंकि आज के सबाल्टर्न इतिहासकारों के बीच लोक में प्रचलित मान्यताओं को आधार मानकर इतिहास लेखन की जो पद्धति शुरू की गयी है, वह ऐतिहासिक दस्तावेजों और संग्रहालयों के माध्यम से विकसित इतिहास दृष्टि से अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक मानी जा रही है । इसलिए अगर 1857 के संदर्भ में लोक साहित्य में ही पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं तो इन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए । यह हो सकता है कि इन गीतों के अज्ञात नाना लेखकों के पास इतिहासदृष्टि का अभाव हो या फिर उनमें कोई ऐसी दृष्टि न हो जिससे वे उपनिवेशवाद की अर्थशास्त्रीय व्याख्या कर सकते हों । मगर इन गीतों के रचयिताओं ने इनके माध्यम से वीरता के जिन कारनामों को कह कर जनता के अंदर उत्साह जगाने की जो कोशिश की है वही इन गीतों के लिए महत्त्वपूर्ण है । केवल इसी आधार पर वे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज बन सकती है, जो किसी भी शिष्ट साहित्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो सकता है । 1857 के इन गीतों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए पी. सी. जोशी ने ठीक ही लिखा है --

"1857 के इन लोक गीतों में न केवल 1857 के दिनों की वास्तविक अभिव्यक्ति है बल्कि वे हमारी महान राष्ट्रीय विरासत की महत्त्वपूर्ण अंग हैं । ये हमारी प्रथम वीर रस की कविताएँ हैं । इस तरह ये हमारी राष्ट्रीय राजनीतिक विरासत की अंग हैं । ये 1857 के विद्रोह में आम लोगों की भावनाओं और आकांक्षाओं पर दृष्टि डालने वाले एकमात्र प्रमाण के रूप में हैं । ये हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज हैं ।"[12]

इस तरह नामवर जी का यह मानना कि शिष्ट साहित्य का प्रमाण ही 1857 के महत्त्व को दिखा सकता है तर्क पूर्ण नहीं प्रतीत होता । रही राजसत्ता के पलटने की बात तो इस तरह की अपेक्षा तत्कालीन लेखक वर्ग और क्रान्तिकारियों से करना उचित नहीं है, क्योंकि अंग्रेजी राज्य में एक तो इस तरह की किसी भी कारवाई को बड़े ही नृशंसता-पूर्ण तरीके से दबा दिया जाता था; फिर उस दौर के लेखक केवल सुधारों की माँग तक ही अपने आप को सीमित रखना चाहते थे, इसलिए किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन के बारे में वे सोचते भी नहीं थे, इसका दमन के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण कारण था, उस दौर के लेखकों की राज-भक्ति, स्वयं नामवर जी मानते हैं कि उस दौर का कोई भी लेखक इससे मुक्त नहीं था । इस दौर की अपनी सीमाएं थीं ।

III

रामविलास शर्मा की नवजागरण सम्बन्धी अवधारणा सर्वाधिक विवादास्पद इस बात को लेकर रही है कि इन्होंने नवजागरण की अवधारणा को क्षेत्रीय आधार पर देखा है, यथा बंग्ला, हिन्दी, मराठी, तमिल इत्यादि इसमें जातियाँ अपने अपने क्षेत्रों में नवजागरण की प्रक्रिया से गुजरती हैं । अखिल भारतीयता जैसे तत्त्वों को रामविलास शर्मा स्वीकार नहीं करते, रामविलास जी की नवजागरण संबंधी अवधारणा में इसी कारण से एक तरह का श्रेष्ठता-बोध दिखाई पड़ता है । हिन्दी आलोचना में रामविलास जी की नवजागरण संबंधी इस मान्यता का भी अनेक आलोचकों ने विरोध किया है । नवजागरण संबंधी अवधारणा के

अन्तर्गत हिन्दी नवजागरण की विशेषताएँ बताते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है —

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी तक हिन्दी जागरण के नवसूत्रधार पुराने चर्खे-कर्घे वाले भारत का स्वप्न नहीं देखते । वे देश के आधुनिक उद्योग-धन्धों के पक्षपाती हैं ।
2. उद्योगीकरण के लिए वैज्ञानिक शिक्षा अनिवार्य । हिन्दी नवजागरण के सूत्रधारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी वैज्ञानिक दृष्टि, वैज्ञानिक प्रशिक्षण की आवश्यकता के प्रति सबसे अधिक सचेत हैं ।
3. हिन्दी नवजागरण अपना सामाजिक ढाँचा बदलना चाहता है ।[13]

इन विशेषताओं के अतिरिक्त रामविलास शर्मा इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि "1857 का संग्राम हमारा जातीय संग्राम भी है । उसका असर सारे देश पर हुआ, हिन्दी भाषी प्रदेश पर सबसे ज्यादा हुआ ।"[14] इसके साथ डा. रामविलास शर्मा भारतीय नवजागरण में राजा राम मोहन राय की भूमिका को भी स्वीकार नहीं करते "भारत के राष्ट्रीय नवजागरण सम्बन्ध सामान्यत: राजा राम मोहन राय से माना जाता है । हो सकता है बंगाल के लिए यह सही हो, आवश्यक नहीं कि हर प्रदेश में वैसी ही प्रक्रिया घटित हुई हो ।"[15]

डा. रामविलास शर्मा के उपर्युक्त आग्रहों को देखते हुए इसे उनका श्रेष्ठता बोध ही माना जा सकता है । नहीं तो हिन्दी नवजागरण में ऐसी कोई महत्वपूर्ण विशेषता नहीं है जिस आधार पर इसे महत्वपूर्ण माना जा सकता है । अगर रामविलास शर्मा श्रेष्ठता बोध को छोड़कर समग्र आत्म पहचान को ध्यान में रखते हुए हिन्दी नवजागरण की विशेषताओं को

गिनाते तो वह यथार्थ के निकट होता है । इसी की ओर संकेत करते हुए डा. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है — "हिन्दी जाति का नवजागरण राष्ट्रीय नवजागरण का अंग है, यदि उसकी कुछ अपनी सामान्य विशेषताएं हैं तो उसमें अनेक सामान्य राष्ट्रीय विशेषताएं भी हैं । भारत की एक जाति का नवजागरण दूसरी जाति के नवजागरण को प्रभावित करता दिखाई पड़ता है, हिंदी नवजागरण के निर्माता दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्य के संपर्क में थे । ध्यान देने की बात है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बंग्ला और मराठी के नए साहित्य का हिंदी में अनुवाद किया था । यह ठीक है 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम का केन्द्र हिन्दी प्रदेश था लेकिन देश की बाकी जनता उसके विरुद्ध या उससे उदासीन नहीं थी । स्वाधीनता आन्दोलन के बाद के इतिहास से भी प्रमाणित होता है कि सम्पूर्ण देश की जनता ने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में आगे बढ़कर भाग लिया केवल हिंदी भाषा जनता ने ही नहीं, हिंदी नवजागरण के स्वरूप और भारतीय नवजागरण से उसके संबंध पर विचार करते समय पृथकता के साथ व्याप्ति अलगाव के साथ एकता और जातीय विशेषताओं के साथ सामान्य राष्ट्रीय विशेषताओं पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए ।"[16] इस रूप में देखने पर एक तो हम इसके क्षेत्रीय स्वरूप को भी बनाए रख सकते हैं तथा इसके राष्ट्रीय स्वरूप की भी इससे अवहेलना नहीं होगी ।

भारत में नवजागरण की शुरुआत बंगाल से होती है । यहीं से पूरे देश में नवजागरण की चेतना फैली । इसीलिए कमोवेश बंगाल नवजागरण और भारतीय नवजागरण को एक ही माना जाता है । इसके सूत्रधार बने राजा राम मोहन राय, जिन्हें भारतीय नवजागरण के पिता

के रूप में याद किया जाता है । इस नवजागरण का मुख्य जोर सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में सुधार पर था, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का आश्रय लेकर राजा राम मोहन राय ने तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों पर प्रहार किया, राजा राम मोहन राय ने अपने समय की सामाजिक एवं धार्मिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं को भी उठाया । उन्होंने जमींदारी व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पीड़क कारवाईयों की तीखी आलोचना की । "राजा राम मोहन राय के नेतृत्व में ब्रह्म समाज ने जाति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चलाया और इसे अप्रजातांत्रिक अमानुषिक और राष्ट्र विरोधी बताया इसने सती और बाल विवाह के विरुद्ध विद्रोह किया और विधवाओं के पुर्नविवाह और स्त्री-पुरूष के समानाधिकार का समर्थन किया ।"[17] इसके लिए उन्होंने अनेक पत्र पत्रिकाओं का संपादन किया, इन पत्रों में 1821 में संवाद कौमुदी जो कि चार भाषाओं में प्रकाशित होता था - अंग्रेजी, हिन्दी, बंग्ला और फारसी तथा "मिरातुल अखबार फारसी" मुख्य है । इस तरह से राजा राम मोहन राय द्वारा आरंभ की गयी बंगला नवजागरण की इस प्रक्रिया को बाद के सुधारकों यथा देवेन्द्र नाथ टैगोर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजेन्द्र लाल मित्र, केशवचन्द्र सेन और अन्य लोगों ने आगे बढ़ाया ।

भारत में नवजागरण की यह धारा सुधारवाद तथा आधुनिकीकरण के लक्ष्य को लेकर चली थी । इसके केन्द्र में राजा राम मोहन राय थे । अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरुद्ध राजनीतिक मुक्ति का संघर्ष चला पाने में असमर्थ नवजागरण के इस दौर के पुरोधाओं ने स्वत्व रक्षा के लिए सांस्कृतिक संघर्ष का रास्ता अपनाया, जिसमें भारतीय संस्कृति के

स्वर्णिम अतीत की बात की गयी, तथा अंग्रेजी उपनिवेशवाद के कारण भारतीय सांस्कृतिक विरासत पर मडराते खतरे की ओर संकेत किया गया । इसलिए अपनी संस्कृति की रक्षा का प्रश्न स्वत्व रक्षा का प्रश्न बन गया । इसके लिए सुधारकों ने धर्म को सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम माना, उस दौर में इसी माध्यम से अंग्रेज भारत में अपनी पैठ अंदर तक बनाने की कोशिश कर रहे थे । इसाई मिशनिरियों के आने से आरंभ हुई धर्मान्तरण की प्रक्रिया ने इस दौर में गंभीर रूप ले लिया था, इससे भी इस काल के सुधारक परेशान थे । मैक्समूलर के धार्मिक दमन के आँकड़े को देखने से इस बात का पता चलता है "1885 तक भारत में 38 इसाई मिशन समाज काम कर रहे थे, जिसके विदेशी सदस्यों की संख्या 887 थी और देशी प्रचारक 751 तथा गैर इसाई सहायक 2856 थे । ये इसाई मिशनरीअन्य साधनों के अतिरिक्त स्कूलों और अस्पतालों के जरिये भी धर्म परिवर्तन करवा रहे थे । ऐसे में स्वत्व का प्रश्न धर्म का प्रश्न बन गया था ।"[18] स्वत्व रक्षा के लिए धर्म का इस्तेमाल समूचे भारतीय नवजागरण में हुआ है । इसे किसी क्षेत्र विशेष की देन मानना सम्पूर्ण नवजागरण की मूल प्रकृति के विरुद्ध है । जैसा कि श्री विष्णुकान्त शास्त्री को विश्वास है कि भारतीय नव-जागरण को यह हिन्दी नवजागरण की देन है, तर्क पर खरा नहीं उतरता । विष्णुकान्त शास्त्री ने लिखा है 1857 के प्रायः सभी प्रमुख नेताओं ने धर्म की रक्षा के लिए जनता का आह्वान किया था, विचार करने का मुद्दा यह है कि हिन्दी नवजागरण में धर्म रक्षा की जो दृष्टि है वह किससे अधिक प्रभावित है - बंगाल के नवजागरण से या कि 1857 के स्वाधीनता संग्राम से ?" विष्णुकान्त शास्त्री की इस जिज्ञासा का समाधान भारत पर प्राच्य विद्या" के खतरे के रूप में खोजा जा सकता

है । ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने भारतीय इतिहास और संस्कृति की जिस रूप में व्याख्या की थी और उसे जिस तरह नीचा दिखाने की कोशिश उपनिवेशवादियों ने की, उससे भारतीय अस्मिता की रक्षा का सवाल जुड़ा हुआ था, और उस दौर में अस्मिता और कुछ नहीं बल्कि धर्म के रूप में ही व्यक्त हो रही थी । कहने की आवश्यकता नहीं कि 1857 का विद्रोह इसी धार्मिक अस्मिता की रक्षा का ही परिणाम था, राजनीतिक स्वतंत्रता उसमें "बाई प्रोडक्ट" की तरह ही आयी थी । जहाँ तक यह सवाल है कि धर्म की रक्षा का विचार सबसे पहले 1857 के विद्रोह में आया कि बंगाल से, उसके जवाब में अक्षय कुमार दत्त के ब्रह्म समाज में दिये गये भाषण से स्थिति स्पष्ट हो जायेगी, अक्षय कुमार दत्त ने 1840 में भाषण देते हुए कहा था - "हम एक विदेशी शासन के अधीन हैं, एक विदेशी भाषा में शिक्षा प्राप्त करते हैं और एक विदेशी दमन झेल रहे हैं जब इसाई धर्म इतना प्रभावशाली हो चला है गोया वह इस देश का राष्ट्रीय धर्म हो । .... मेरा हृदय यह सोचकर फटने लगता है कि हिन्दू शब्द भुला दिया जायेगा और हम लोग एक विदेशी नाम से पुकारे जायेंगे ।"[20] यह उद्धरण मात्र यही दिखाने के लिए दिया गया है कि संस्कृति की रक्षा अपनी अस्मिता की पहचान समूचे भारतीय नवजागरण की विशेषता रही है इसे किसी क्षेत्र विशेष की देन नहीं माना जा सकता, प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के यहाँ संस्कृति और धर्म की रक्षा का प्रश्न प्रगतिशील भूमिका को लेकर चल रहा था । इसके अन्दर संकीर्ण तत्वों का समावेश बाद के दौर में हुआ । कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें हिन्दी क्षेत्र का बहुत बड़ा हाथ रहा है ।

महाराष्ट्र में नवजागरण की जो धारा चली उसका मुख्य जोर समाज सुधार पर था, यह प्रवृत्ति बंगाल में भी थी । मगर महाराष्ट्र की अपेक्षा कम । महाराष्ट्र में सुधारवादियों ने दार्शनिक चिन्तन की अपेक्षा व्यावहारिक सच्चाईयों की ओर ज्यादा ध्यान दिया । महाराष्ट्र में नवजागरण के अग्रदूतों में - ज्योतिबा फूले, रानाडे, विष्णुकान्त शास्त्री चिपलूणकर, गोपाल हरि देशमुख, "लोहकहितवादी", रामकृष्ण गोपाल मण्डारकर, बाल गंगाधर तिलक आदि महत्वपूर्ण हैं । यही संक्षेप में भारतीय नवजागरण का स्वरूप है । भारतीय नवजागरण के सभी क्षेत्रों में ये विशेषताएं पायी जाती हैं, इसमें यही हो सकता है कि कहीं ये तत्व पहले प्रभावी रहे, कहीं बाद में, इसीलिए क्षेत्रीय आग्रहों पर ज्यादा जोर देने की आवश्यकता नहीं है ।

डा. रामविलास शर्मा ने भारतीय नवजागरण की इस धारा की उपेक्षा करते हुए लिखा है "हिन्दी नवजागरण की अपनी विशेषताएं हैं वह बंगाल या गुजरात के नवजागरण से भिन्न है । ये विशेषताएं भारतेन्दु युग में भी मिलती हैं ।" डा. रामविलास शर्मा की उपर्युक्त अवधारणा का खण्डन तो डा. नामवर सिंह ने अखिल भारतीय नवजागरण के रूप में तो की है साथ ही रामविलास शर्मा की बहुत सी अवधारणाओं से सहमत विद्वान विष्णुकान्त शास्त्री भी रामविलास जी से सहमत नहीं दिखाई पड़ते, जहाँ रामविलास शर्मा हिन्दी में आयी सभी बुराइयों को बंगाल या गुजरात से आयी मानते हैं वहीं विष्णु कान्त शास्त्री विश्वासपूर्वक इस बात को स्वीकार करते हैं कि कुछ अच्छाईयाँ भी वहाँ से आयीं । उन्होंने लिखा है - हाँ यह ठीक है कि समाज सुधार, शिक्षा, भाषा, साहित्य आदि की दृष्टि से हिन्दी नवजागरण बंगाल के नवजागरण का पर्याप्त ऋणी है ।"[22]

स्वयं भारतेन्दु भी बंगाल की नवजागरण की चेतना से बहुत अधिक प्रभावित थे । भारतेन्दु ने स्वयं बंगाल और उड़ीसा की कई बार यात्रा की थी । वे बंगला नवजागरण के पुराधाओं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिचन्द्र चटोपाध्याय, राजेन्द्र लाल मित्र आदि के गहरे सम्पर्क में भी रहे । बंगाल के नवजागरण के इन पुराधाओं ने भारतेन्दु की बराबर इज्जत की । इसी की ओर संकेत करते हुए डा. नामवर सिंह ने लिखा है "बंगाल नवजागरण से हिन्दी नवजागरण को अलगाते समय यह न भूलना चाहिए कि भारतेन्दु का सीधा संपर्क ईश्वरचन्द्र विद्यासागर केशवचन्द्र सेन, बंकिमचन्द्र राजेन्द्र लाल मित्र और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से था । भारतेन्दु ने बंगला नवजागरण की मन पसंद रचनाओं से छाया ग्रहण तो की ही, अपने नाटकों में जहाँ उन्हें क्रान्तिकारी विचारों को व्यक्त करना होता था, प्रायः बंगाली चरित्रों की अवतारणा करते थे और इन्हीं को प्रवक्ता भी बनाते थे ।"[23] भारतेन्दु की बंगाल नवजागरण से ऐसी निकटता थी ।

डा. शंभूनाथ ने इसकी ओर अधिक पड़ताल की है । उन्होंने इस सम्बन्ध को व्यक्तिगत ही नहीं वैचारिक और बौद्धिक स्तर पर भी स्वीकार किया है । डा. शंभुनाथ के अनुसार इसका उद्देश्य था "बुद्धिवाद और राष्ट्रवाद को परस्पर विरोधी प्रवृत्ति के रूप में न देखकर अंर्तमिश्रित करना" । इस क्रम में यह भी बता देने की आवश्यकता है कि डा. शंभुनाथ हिन्दी नवजागरण में राष्ट्रवादी तत्व अधिक बताते हैं और बंगाल में सुधारवादी स्वर ज्यादा है, जो बुद्धिवाद से प्रभावित है भारतेन्दु इन्हीं के बीच एक तरह से सेतु का

कार्य कर रहे हैं । डा. शंभुनाथ भारतीय नवजागरण को हिन्दी नवजागरण की देन इन बातों में व्यक्त करते हैं "भारतीय जातियों की राष्ट्रीय एकता, ख) स्वदेशी तथा ग) निज भाषा की उन्नति भारतीय नवजागरण के वे तत्व हैं जो राजा राम मोहन राय के समय के नवजागरण में नहीं थे ।शिक्षा कारीगरी तथा उद्योग के विकास की बात राजा राम मोहन राय भी कहा करते थे । पर इसमें 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह से प्रेरणा लेकर जो नये तत्व जुड़े वे काफी महत्वपूर्ण हैं । भारत को माता के रूप में देखा जाने लगा "मदर कल्ट" पैदा हुआ । भारतीय समाज के औपनिवेशिक दमन की प्रतिक्रिया में ही भारत माता का बिंब बना । एक राष्ट्रीय संस्कृति की नींव पड़ी जो जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीयता के ऊपर थी ।"[24]

डा. शंभूनाथ का यह मत कि जातियों की एकता, स्वदेशी तथा निज भाषा के तत्व भारतीय नवजागरण में राजाराम मोहन राय के समय मौजूद नहीं थे, से सहमत नहीं हुआ जा सकता इस संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि ये सभी तत्व सभी नवजागरणों में मौजूद थे, बंगाली और मराठी भाषाएँ इस मामले में हिन्दी से ज्यादा प्रभावकारी और इससे पहले से अपनी भूमिका राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में अदा कर रहीं थी ।

राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति का सबसे सबल माध्यम गद्य बना, निराला ने इसीलिए गद्य को जीवन संग्राम की भाषा कहा है । इस गद्य की शुरूआत मराठी और बंगला में हिन्दी से पहले हो चुकी थी । भाषा का सवाल उन्नीसवीं शताब्दी में स्वत्व रक्षा का सवाल

बन गया था, इसीलिए जिस भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने "स्वत्व निज भारत गहै" की बात की, उन्होंने ही "निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल" की बात भी की है । मगर इसमें मुख्य मुद्दा पहले और बाद का, यह सवाल तभी पैदा होता है जब हम नव-जागरण की प्रक्रिया को खाने में बाँटकर देखते हैं । तथा एक प्रकार के श्रेष्ठता बोध से ग्रसित होते है । नवजागरण के सभी तत्व अखिल भारतीय रूप में पाये जाते हैं, जैसे-जैसे शिक्षा और संस्कृतिक चेतना के प्रति जनता के बीच भावना जगी वैसे-वैसे इन तत्वों यथा भाषिक उन्नति, अस्मिता, स्वदेशी आदि की बात अखिल भारतीय स्तर पर विस्तार हुआ क्योंकि बंगाल इस रूप में सबसे पहले जागरूक हुआ इसलिए ये तत्व यहीं के नवजागरण में सबसे पहले पाये गये । इसे सहर्ष स्वीकार किया जाना चाहिए ।

हिन्दी नवजागरण की सबसे महत्वपूर्ण बात जो लगती है वह यह कि हिन्दी में नवजागरण का कार्य सुधारकों और समाज सेवियों ने नहीं किया जैसी स्थिति बंगाल में थी, महाराष्ट्र में भी यही स्थिति थी । हिन्दी में यह कार्य लेखकों को सम्पन्न करना पड़ा, इसलिए हिन्दी नवजागरण उस रूप में आम जनता को प्रभावित नहीं कर सका जैसा कि महाराष्ट्र और बंगाल में था, हिन्दी नवजागरण की चेतना मुख्यतः पढ़े लिखे शहरी वर्ग तक ही सीमित रह गयी भारतेन्दु आदि ने नाटकों के माध्यम से जनता से जुड़ने की कोशिश तो की मगर इसका आधार भी क्षेत्रीय ही रहा । साथ ही हिन्दी नवजागरण में धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध उस तरह से आवाज नहीं उठायी गयी जिस रूप में

अन्य नवजागरणों में इसे उठाया गया, राष्ट्रीयता की बात हिन्दी नवजागरण के सम्बन्ध में की जाती है, यह सच है कि 1857 के राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम ने हिन्दी भाषी क्षेत्र में राष्ट्रीयता के तत्व का समावेश किया, मगर क्या नवजागरण के पुरोधा हिन्दी क्षेत्र की इस राष्ट्रीय चेतना को और उकसा पाये या यह राजभक्ति की ओर ज्यादा मुड़ गया । वैसे देशभक्ति के साथ राजभक्ति का तत्व उन्नीसवीं सदी के प्रायः सभी नवजागरणों में पाया जाता है । उपनिवेशवाद के खिलाफ सशक्त राष्ट्रीय प्रतिरोध 20वीं सदी में ही देखने को मिलता है । इसे इस दौर की कविता कहानी, उपन्यास आदि में देखा जा सकता है । इसके पहले दबी सी गूँज ही सुनाई पड़ती है ।

हिन्दी नवजागरण को उसकी विशेषताएँ बता कर अलगाने से सबसे पहले तो हम नवजागरण के स्वरूप को नहीं समझ पायेंगे, और इससे इसके अखिल भारतीय चरित्र की भी उपेक्षा होगी । इसीलिए डा. नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है "वास्तविकता यह है कि भावबोध और विचार बोध की दृष्टि से समूचा भारतीय नवजागरण एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है, इसमें बौद्धिकता के साथ भावुकता है, ऐहिकता के साथ आधुनिकता भी है और यथार्थवाद के साथ ही रहस्यवाद के तत्व भी घुले-मिले हैं ।"[25]

भारत में नवजागरण की प्रक्रिया उपनिवेशवादी दौर की उपज है इसलिए उपनिवेशवाद से अपनी अस्मिता की रक्षा का प्रयत्न भारतीय नवजागरण का मुख्य स्वर है, भारतीय नवजागरण की यह प्रवृत्ति किसी क्षेत्रीयता में सीमित नहीं है, स्वत्व रक्षा के इस प्रयत्न में इसमें अतीत के

प्रति झुकाव भी पाया जाता है, बौद्धिकता के तत्व भी सभी क्षेत्रों में पाये गये हैं, तथा सभी क्षेत्रों में साम्प्रदायिक सौहार्द के प्रयास भी किये गये, इस दौरान कुछ प्रतिगामी तत्वों का भी उदय हुआ मगर आवश्यकता इसको समग्रता में देखने की है जिससे नवजागरण का अखिल भारतीय रूप न खंडित होने पाये इसी की ओर संकेत करते हुए डा. नामवर सिंह ने लिखा है "वैसे इस नवजागरण से भी अपनी-अपनी पसन्द के मूल्य अथवा व्यक्ति चुनने के लिए हर कोई स्वतंत्र है लेकिन शर्त यह है कि खण्ड को ही समग्र कहने का आग्रह न किया जाय न इतिहास कल्पवृक्ष है न नवजागरण कामधेनु ।"[26]

TH-6280

DISS
0,152:9'N9
152N6

संदर्भ

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ रामविलास शर्मा (भूमिका)
2. आलोचना सं. डा. नामवर सिंह, पृ. 2, अक्तू. दिस. 86
3. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी पृष्ठ 94
4. महाबीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण रामविलास शर्मा, पृ. 179
5. - वही - पृष्ठ 9
6. आलोचना अक्तू. दिस. 1986, सं. नामवर सिंह, पृ. 6
7. - वही -
8. भारत का स्वाधीनता संघर्ष विपिनचन्द्र, पृ. 333
9. - वही -
10. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, ए.आर. देसाई, पृ. 329
11. धर्मयुग 17 मई 1987
12. रिबेलियन 1857 सं. पी. सी. जोशी, पृ. 286
13. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 179
14. - वही - पृ. 14
15. - वही - पृ. 18
16. साहित्य और इतिहास दृष्टि - मैनेजर पाण्डेय, पृ. 191
17. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, ए. आर. देसाई पृ. 230

18. आलोचना अक्तू. दिस. 1986, पृ. 4

19. धर्मयुग 17 मई 1987, पृ. 30

20. आलोचना अक्तू. दिस. 1986

21. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, रामविलास शर्मा

22. धर्मयुग 17 मई 1987 पृ. 30

23. आलोचना अक्तू. दिस. 1986, पृ. 6

24. दूसरे नवजागरण की ओर, शंभुनाथ पृ. 7

25. आलोचना अक्तू. दिस. 1986, पृ. 7

अध्याय - दो

"बुद्धिवाद और रहस्यवाद"

"बुद्धिवाद और रहस्यवाद"

I

उन्नीसवीं शताब्दी का भारतीय नवजागरण रूढ़ियों और जड़ता के बरक्स मानवीय बुद्धि की प्रतिष्ठा का आधार लेकर शुरू हुआ था । जिसमें मध्यकालीनता को कोई स्थान नहीं था, इस दौरान समाज में प्रचलित कुरीतियों पर जमकर प्रहार किया गया । नवजागरण का यह दौर पुरानी धारणाओं के "डिकस्ट्रक्शन" का दौर था, यह कार्य सहज मानवीय बुद्धि के सहारे ही किया गया, मनुष्य की तर्क शक्ति ने सभी प्रचलित धारणाओं को इस दौर में अस्वीकार करने में कोई संकोच नहीं किया । नवजागरण काल का वैचारिक संघर्ष अपनी संवेदना में एक होते हुए भी अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग ढंग से चलाया गया, इसका वर्गीय आधार भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक सा नहीं था । जैसे बंगाल में यह कार्य बंगला "भद्रलोक" के जिम्मे था, मराठी में इसे "समाज सुधारक" कहे जाने वाले चिन्तकों ने आगे बढ़ाया, सबसे भिन्न हिन्दी क्षेत्र में यह कार्य "लेखक-वर्ग" के जिम्मे पड़ा, इसलिए इसका स्वरूप भी अलग किस्म से विकसित हुआ । और इसका आधार भी अलग ढंग से विकसित हुआ । नवजागरण संबंधी विवाद के मूल्यांकन के क्रम में हम इस शीर्षक के अन्तर्गत भारतीय नवजागरण में बौद्धिक वर्ग की विभिन्न क्षेत्रों में स्थिति का विश्लेषण करने की कोशिश करेंगे, इसी क्रम में हम यह भी देखेंगे की उस दौर का बौद्धिक वर्ग आपस में किस तरह से जुड़ा हुआ था, उसमें संवाद की स्थिति क्या थी ।

नवजागरण संबंधी अपने विश्लेषण के क्रम में डा. रामविलास शर्मा ने "हिन्दी नवजागरण" की प्रगतिशील बौद्धिक चेतना को रेखांकित करते हुए लिखा है "हिन्दी नवजागरण मूलत: बुद्धिवादी रहस्यवाद विरोधी

है । कुछ समय के लिए रहस्यवादी धारणायें उस पर हावी होती दिखाई देती हैं पर पूरी तरह नहीं प्रेमचन्द अपनी जगह अडिग रहे हैं और उनका साहित्य अनेक महारथियों के सम्मिलित कृतित्व से बढ़कर है । नये रहस्यवाद का मूल स्रोत बंगाल है । उद्योगीकरण का विरोध करने वाली विचारधारा का स्रोत गुजरात है । आधुनिक विज्ञान के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण दोनों जगह है ।"[1] हिन्दी नवजागरण की डा. रामविलास शर्मा द्वारा की गयी यह व्याख्या हिन्दी आलोचना में काफी विवादित रही है, तथा इस विश्लेषण को पढ़ने के बाद और वर्तमान समय में हिन्दी-क्षेत्रकी स्थिति से परिचित किसी भी पाठक के मन में अनेक जिज्ञासाएं आ सकती हैं । सर्वप्रथम वह अपने इस "बौद्धिक क्षेत्र" की शिक्षा की स्थिति पर विचार करेगा । अगर रामविलास जी के विश्लेषण को आधार माना जाय तो इस क्षेत्र में औद्योगिक प्रगति की ओर ध्यान जाना भी स्वाभाविक ही है । इसके बाद सच्चाई का सामना होने पर उसके हाथ निराशा ही लगेगी. क्योंकि आज इन दोनों क्षेत्रों में हमारी स्थिति नीचे से ही अच्छी लगेगी, अगर इसी पर आत्ममुग्ध होना है तो इसमें परेशानी की कोई बात नहीं । हो सकता है कि समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में हमनें कुछ मानक स्थापित किये हों, साम्प्रदायिक सौहार्द की मिशाल कायम की हो; मगर हमारा शैक्षणिक रूप से पिछड़ापन और गरीबी दो ऐसी सच्चाईयाँ है जिनसे मुँह चुराना अपने आप से विश्वासघात के समान है । इसकी वास्तविकता की जाँच, गहरी छानबीन की माँग करती है और यह काम अर्थशास्त्र की सीमा में आता है । फिर भी इसके एक कारण के रूप में इस बात को कहा जा सकता है - "समाज सुधार आन्दोलन और सांस्कृतिक नवजागरण के न होने के परिणामस्वरूप हिन्दी प्रदेश में केरल, तमिलनाडु और महाराष्ट्र जैसी स्थिति ही न पैदा हो सकी , ज्योतिबा फुले, नारायण मेघाजी लोखाड़ी,

रामास्वामी नायकर, नारायण गुरू, अंबेडकर आदि के नेतृत्व में जैसा आन्दोलन महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाडु आदि में हुआ वैसा आन्दोलन आज तक हिन्दी भाषी क्षेत्र में न हो सका ।"[2] इस तरह के जन आन्दोलन के अभाव के कारण हम शैक्षणिक रूप से पिछड़े रह गये क्योंकि हमारे अन्दर उस तरह की चेतना न आ सकी, इसका सबसे बड़ा उदाहरण यही है कि इस क्षेत्र के अशिक्षितों में 80% के आसपास पिछड़े और दलित वर्गों के लोग ही हैं, यह स्थिति महाराष्ट्र, तमिलनाडु, और केरल आदि राज्यों में नहीं है जहाँ समाज-सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप चेतना पहले आ गयी थी । हिन्दी क्षेत्र के जिस बौद्धिक वर्ग की चर्चा रामविलास शर्मा करते हैं उसकी समस्या यह है कि वह अपने ज्ञान को "शेयर" नहीं कर पाया है । वह आम आदमी तक नहीं पहुँच पाया है । अखबारों और पत्रिकाओं में ही इसकी गूँज सुनाई पड़ती है, इसलिए कागज पर भारी रहने के बावजूद इस क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान का स्तर बहुत ऊँचा नहीं उठ पाया है । ऐसा भी नहीं है कि हिन्दी नवजागरण के अग्रदूतों को इसकी चिन्ता नहीं सताती, वे शिक्षा की स्थिति पर बराबर लिखा करते हैं । जैसा महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्वयं लिखा है, "शिक्षा की दशा पर उनकी यह टिप्पणी "गाँवों में मदरसे बहुत कम हैं जितने हैं उनमें बहुत कम लड़के जाते हैं सरकार हर आदमी के पीछे जनसंख्या को देखते आठ आने भी शिक्षा पर खर्च नहीं करती ।" इस पूरे प्रकरण में मैंने यही कहने की कोशिश की है कि ज्ञान ऊँची समझ रखने वाले नवजागरण के इन महापुरूषों के ज्ञान सकारात्मक उपयोग नहीं हो पाया, ऐसा उपयोग जिससे हिन्दी क्षेत्र में जनान्दोलन की स्थिति पैदा हो सके, अपने तमाम ज्ञान-विज्ञान के बावजूद आज हम इसीलिए पिछड़े कहे जाते हैं, इसमें कितनी सच्चाई है कह सकना मुश्किल है ।

डा. रामविलास शर्मा के इस प्रगतिशील दृष्टिकोण की आलोचना नामवर सिंह ने की है । उनके इस दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है "इसी प्रकार हिन्दी नवजागरण में प्रखर बुद्धिवाद की प्रधानता भी संदिग्ध ही दिखाई पड़ती है इस नवजागरण के अग्रदूत स्वयं भारतेन्दु में वैष्णव भावुकता कहीं अधिक है, निश्चय ही उनमें बौद्धिकता भी है जो व्यंग्य रचनाओं में पूरी प्रखरता के साथ व्यक्त होती है किन्तु पद्य के साथ ही उनके अधिकांश गद्य में कृष्ण भक्ति की भावुकता अधिक मुखर है और कहना न होगा कि यह स्रोत बंगाल से अधिक स्वयं हिन्दी के अपने कृष्ण भक्ति काव्य में है ।"[3] ध्यातव्य है कि डा. रामविलास शर्मा हिन्दी नवजागरण में इस तरह की बातें बाहर से ही आयी मानते हैं । ऐसा कहते हुए डा. रामविलास शर्मा नवजागरण की अखिल भारतीयता को क्षेत्रीयता के रंग में रंगने की कोशिश करते हैं । बौद्धिक वर्ग के कार्य को अखिल भारतीय रूप में देखने पर ही किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं ।

नवजागरण की प्रक्रिया तर्क को आधार मानकर चली थी, यह संवाद के बिना संभव नहीं है । नवजागरण काल के बुद्धिजीवी वर्ग ने बौद्धिक संवाद को बराबर कायम रखा चाहे वह हिन्दी क्षेत्र में हो या बंगाल के मराठी के या गुजरात के सब आपस में जुड़े थे क्योंकि उनकी संवेदना भी एक थी और उनका लक्ष्य भी कमोवेश एक ही था उनकी कार्य प्रणाली में ही थोड़ी बहुत भिन्नता दिखाई पड़ सकती है । हाँ उनमें रामविलास जी की तरह श्रेष्ठता बोध का अभाव था वे एक दूसरे से सीखने और आदान-प्रदान में विश्वास रखते थे जो नवजागरण की एक मूल विशेषता है । मराठी साहित्य की प्रशंसा मुक्तकंठ से महावीर प्रसाद द्विवेदी ने की है, और उसकी श्रेष्ठता को वे स्वीकार

करने में किसी संकोच और हीनता ग्रन्थि से नहीं ग्रसित हैं । मराठी से आदान-प्रदान शीर्षक" से उन्होंने सरस्वती में एक टिप्पणी लिखते समय इस बात को स्वीकार किया - "मराठी में ऐसे हजारों ग्रन्थ हैं जिनका अनुवाद करने से हिन्दी साहित्य की शोभा हो सकती है और हिन्दी पढ़ने वालों की ज्ञान वृद्धि हो सकती है । परन्तु हिन्दी में ऐसे बहुत ही कम ग्रन्थ हैं जिनके मराठी रूपान्तरण से महाराष्ट्र देश-वासियों को विशेष लाभ पहुँच सके ।"[4] इस प्रकार की आदान-प्रदान की प्रक्रिया की भारतीय नवजागरण में दिखाई पड़ती है, जिसमें यथार्थ पर बल है । अहं से यह बहुत दूर है । महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसी क्रम में आगे लिखा है "हिन्दी में जो स्थान तुलसी कृत रामायण का है वही मराठी में दास बोध का है । उधर श्रीमन्त यादव राव ने रामायण को मराठी पाठकों के लिए सुलभ कर दिया, इधर महाराष्ट्र होकर भी हिन्दी के अनन्य उपासक श्री पं. माधव राव जी सप्रे ने रामदास स्वामी के "दास बोध" को हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ कर दिया । यह अनुवाद हिन्दी में एक रत्न है ।"[5] महावीर प्रसाद द्विवेदी के इस सहज स्वीकार में न कोई जातीय आग्रह है और न कोई अहं । फिर उन्हीं के व्यक्तित्व को आधार मानकर हिन्दी में नवजागरण की अवधारणा प्रस्तुत करने वाले विद्वान डा. रामविलास शर्मा ने इस प्रकार का जातीय आग्रह कहाँ से आ गया, क्या उन्होंने तथ्यों को अपने हिसाब से व्याख्यायित नहीं किया है ?

ऐसा नहीं है कि हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण के पुरोधा केवल अपने आसपास के लोगों से आक्रान्त होकर उनकी जय-जयकार ही करते हो, हिन्दी क्षेत्र के तत्कालीन बौद्धिक वर्ग ने बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात के बौद्धिक वर्ग की आलोचना भी की है । ऐसा इसीलिए संभव

हो पाया क्योंकि वे नवजागरण की मूल संवेदना "तर्क" और "संवाद" को बखुबी समझते थे । इससे वे लोकतांत्रिक ढंग से बातों को रखकर संवाद की स्थिति कायम रख सके । डा. शंभूनाथ ने ठीक ही लिखा है "तर्क और लोकतंत्र में गहरा संबंध है । तर्क समाज को निरंतर अधिक उच्चतर लोकतंत्र की ओर ले जाता है और लोकतंत्र हमेशा समाज को निरंतर अधिक तर्क की ओर सामंतवाद और साम्राज्यवाद से संघर्ष की प्रक्रिया में नवजागरण ने यदि तर्क की सामाजिक शक्ति न विकसित की होती लोकतंत्र का बीज वपन न होता"[6] और न ही संवाद की स्थिति कायम रह पाती । संवाद और अन्य जातियों से सीखने की ललक भी बराबर हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण के अग्रदूतों में दिखाई पड़ती है । जैसा कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खुद स्वीकार किया है - "यदि किसी बंगाली के अथवा महाराष्ट्र के अथवा मदरास के अथवा अंगरेज के अथवा अन्य किसी अन्य जाति या देश के पुरूष से हमको अधिक उपदेश मिलने की आशा हो तो हमको उचित है कि हम आदरपूर्वक उसके चरित को पढ़ें उस पर विचार करें और उससे लाभ उठायें जिस प्रान्त में जो रहता है ।"[7] कुछ जातीय आग्रह और अपने विश्लेषण में अर्थशास्त्र की ओर ज्यादा झुके रामविलास शर्मा हिन्दी जाति की अवधारणा प्रस्तुत करते समय हिन्दी नवजागरण की इस "स्पिरीट" की अनदेखी करते हैं जिसमें सब जगह से सीखने की बात कही गयी है । डा. रामविलास शर्मा को अन्य जगह से सीखने लायक कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता । इसका एक कारण यह कि अपने विश्लेषण में हिन्दी क्षेत्र को राजनैतिक रूप से एक करने की चेष्टा से वे ज्यादा प्रभावित दिखाई पड़ते हैं जैसा कि स्वयं उन्होंने ही एक साक्षात्कार में स्वीकार किया है" इससे छः सात राज्यों के ऊपर विधान सभानों गवर्नरों और मंत्रियों पर आप जो पैसा खर्च करते हैं वो बच जायेगा, हमारा कहना है कि जहाँ-जहाँ हिन्दी राज्य भाषा

है उन सबका एक राज्य बनाओं और जितने तुम्हारे जनपद है जैसे मिथिला है, भोजपुरी क्षेत्र है, अवधी बोलने वाले क्षेत्र हैं बुन्देलखण्ड है इस सबको तुम प्रशासन की ईकाइयाँ बनाओ"[8] इस तरह की राजनैतिक सोच रखने के कारण भी वे अन्य जगहों से कुछ सीखने से कतराते हैं, हिन्दी क्षेत्र को आत्मनिर्भर और इतना आत्मनिर्भर बनाने पर उनका जोर है कि शिक्षा समाज और संस्कृति के क्षेत्रों में भी कुछ अन्य जगहों से न माँगना पड़े । आज के युग में ऐसी बात संभव नहीं दिखाई पड़ती बिना एक दूसरे से संवाद कायम किये आज समाज में कुछ कर पाना असंभव है ।

संवाद और सीखने की प्रक्रिया केवल हिन्दी में ही नहीं थी, अपितु बंगाली बौद्धिक वर्ग भी इस बात को लेकर चिन्तित था कि बंगाल में हिन्दी शिक्षा उतनी व्यापक नहीं थी । तथा इस सम्बन्ध में तत्कालीन बंगाली पत्र "प्रवासी" में "बंगाल में हिन्दी शिक्षा की आवश्यकता" विषय पर एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी, जिसे बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी "सरस्वती" के सितम्बर 1915 अंक में प्रकाशित किया उसका एक अंश यहाँ द्रष्टव्य है "देश भाषा के सहारे यदि उनमें साध्वी भाव की स्थापना हो तभी राष्ट्रीय परिवार का भाव उदय हो सकेगा और तभी भिन्न-भिन्नप्रान्तवासियों में और घनिष्टता की उत्पत्ति भी हो सकेगी । .... हमारी स्त्रियों के लिए हिन्दी जानना बहुत आवश्यक है । हिन्दी जानने से शिक्षित बंग महिलाओं की कार्यकारिता भी बहुत बढ़ सकती है ।"[9] इससे यही बात सामने आती है कि भाषा का विवाद बाद में आया जब जातीय आग्रह की बात की जाने लगी नवजागरण काल में इस तरह का कोई विवाद नहीं था सामाजिक पुर्नरचना के क्रम में नवजागरण के पुरोधा छिद्रान्वेषण पर कम सीखने पर ज्यादा बल देते थे, यह बात

रामविलास जी ने अपने विश्लेषण में नहीं उठायी है, क्योंकि वे एक जातीय साहित्य "जातीय नवजागरण" की एक बंधी-बंधायी रचना करने में लगे थे । बाद में बंग्ला, मराठी गुजराती और तमिल नव-जागरण में अगर जातीय आग्रह आता है, तो इससे रामविलास शर्मा का तर्क ही तो पुष्ट होता है, मगर हमारे नवजागरण की अखिल भारतीयता काफी हद तक प्रभावित होती है तथा इसकी मूल "स्पिरिट" भी जातीय आग्रहों के बीच कहीं खो जाती है, इससे हम सबका नुकसान ही हुआ है ।

इतना ही नवजागरण के दौर में बंगाल महाराष्ट्र और हिन्दी क्षेत्र में अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरुद्ध जो आवाज उठायी गयी उसका स्वर भी कमोवेश एक ही था, शिक्षा, समाज सुधार के प्रति दृष्टिकोण अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों का विरोध और सबसे बढ़कर स्वतंत्रता की चेतना की अभिव्यक्ति का स्वर कहीं भी धीमा नहीं रहा, चाहे वह बंगाल हो या हिन्दी क्षेत्र सबने अपनी-अपनी तरह से अंग्रेजी उपनिवेश-वाद का प्रतिरोध किया । भारतेन्दु, बंकिम, रानाडे, चिपलुणकर, फुले, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, शिशिर कुमार घोष, केशवचन्द्र सेन आदि का स्वर इन विषयों में एक ही रहा । इसकी एक सीमा भी थी, जो हर जगह पायी जाती है, राजभक्ति के साथ देशभक्ति इससे उस दौर का कोई भी लेखक बहुत मुश्किल से बच पाया है । बौद्धिक वर्ग द्वारा अंग्रेजी शासन के विरोध का एक नमूना हिन्दी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और बंग्ला के बंकिमचन्द्र चटर्जी के विचारों में समानता के आधार पर देखा जा सकता है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा अंग्रेजी राज्य में शोषण और

अव्यवस्था का कारण यह माना गया है कि अंग्रेज सात समुद्र पार से आकर हम पर शासन कर रहे हैं, जिससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । इसे भारतेन्दु ने इन शब्दों में व्यक्त किया है ।

अंधाधुंध मचहु सब देसा।जानहु राजा रहत विदेसा ।।

इसी बात को भारतेन्दु के ही समकालीन बंकिम ने इस ढंग से कहा है "किसी देश में अगर राजा विदेशी हो तो अनेक अत्याचार घटित होते हैं । देश के लोगों की अपेक्षा जो राजा के स्वजातीय होते हैं, उन्हें प्रधानता मिलती है । इससे प्रजा परजाति से पीड़ित होती है । जिस देश में स्वदेशी प्रजा पर विदेशी राजा के स्वजातीय लोगों का वर्चस्व होता है । उसी देश को पराधीन कहते हैं । जो देश परजाति के पीड़न से शून्य है वही स्वाधीन है ।§भारत वर्ष की स्वाधीनता एवं पराधीनता§[10]

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार नवजागरण काल का बौद्धिक वर्ग एक दूसरे से अपनी चेतना के स्तर पर गहराई से जुड़ा हुआ था और एक दूसरे को प्रभावित कर रहा था, उस दौर में बंगाली, महाराष्ट्र सभी के अन्दर सीखने की ललक थी । इसीलिए डा. रामविलास शर्मा का यह मत कि हिन्दी नवजागरण एक स्वतंत्र रूप से विकसित नवजागरण है तथा उसमें आयी सभी बुराईयाँ अगर गाँधीवादी विचारधारा को बुराई माना जाय तो - सभी बाहर से आयी हैं, इस तरह का अलगाव तर्क संगत नहीं है क्योंकि चेतना के स्तर पर यह एक दूसरे से जुड़ा हुआ था । इसी की ओर संकेत करते हुए डा. नामवर सिंह ने लिखा है "बंगाल से हिन्दी नवजागरण को अलगाते समय यह न भूलना

चाहिए कि भारतेन्दु का सीधा संपर्क ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशव-चन्द्र सेन, बंकिमचन्द्र, राजेन्द्र लाल मित्र और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से था । भारतेन्दु ने बंगला नवजागरण से छाया ग्रहण तो की ही, अपने नाटकों में जहाँ उन्हें क्रान्तिकारी विचारों को व्यक्त करना होता था प्राय: बंगाली चरित्रों की अवतारणा करते थे और उन्हीं को प्रवक्ता भी बनाते थे ।"[11] प्रभाव ग्रहण और वैचारिक समानता, उन्नीसवीं शताब्दी में लिखे गये नवजागरण काल के साहित्य की मूल विशेषता है । और यह समानता पूरे देश में स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रति भावनाओं और विचारों की व्यापक एकरूपता दर्शाती है ।

केवल अंग्रेजी विरोध के आधार पर भारत के राष्ट्रीय नव-जागरण से राम मोहन राय को अलग करना तर्क संगत नहीं है, इसके पीछे राम मोहन राय की दूरदर्शी सोच को भी रेखांकित किया जाना चाहिए, ऐसा नहीं था कि राम मोहन राय ने भारतीय भाषाओं की कीमत पर अंग्रेजी को प्रोत्साहित करने की बात की हो, उनका उद्देश्य भी वही था जो महावीर प्रसाद द्विवेदी का था । इस संबंध में राम-विलास शर्मा का यह कथन कि "भारत के राष्ट्रीय नवजागरण का संबंध सामान्यत: राजा राम मोहन राय से जोड़ा जाता है । हो सकता है बंगाल के लिए यह सही हो, आवश्यक नहीं है कि हर प्रदेश में वैसी ही प्रक्रिया घटित हुई । द्विवेदी जी अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रबल विरोधी थे । वह बुद्धिवाद और वैज्ञानिक विचार पद्धति के समर्थक थे और रहस्यवाद के विरोधी थे । वह भारत के औद्योगीकरण के पक्षपाती थे ।"[12] सबसे पहले यह कि अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं के वर्चस्व के लिए नवजागरण काल के सभी सुधारकों और

साहित्यकारों ने अपने-अपने क्षेत्रों में आवाज उठायी और इसके लिए आन्दोलन चलाये । इस सम्बन्ध में चिपलुङ्कर की महत्त्वपूर्ण टिप्पणी द्रष्टव्य है । उन्होंने लिखा है "अंग्रेजी कविता द्वारा रौंदी गयी हमारी स्वतंत्रता तबाह हो चुकी है ।"[13] इस टिप्पणी में "अंग्रेजी कविता" का अर्थ था अंग्रेजी शिक्षा तथा वे सभी बौद्धिक प्रभाव जिनके द्वारा भारतीयों में यह भावना पैदा की जा रही थी कि अंग्रेजी राज्य उनके कल्याण के लिए तथा ईश्वरीय विधान का परिणाम था । इस तरह की टिप्पणी के बावजूद भी उस समय का कोई भी लेखक राज-भक्ति और देशभक्ति के अन्तर्विरोध से बहुत ही मुश्किल से बच पाया है । चाहे भारतेन्दु हो अथवा चिपलुङ्कर या कोई अन्य । परदेशी जुलाहों और मानचेस्टर के उद्योगपतियों की आलोचना करने वाले तथा अंग्रेजों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण की दारुण दशा इन शब्दों में व्यक्त करने वाले --

भीतर-भीतर सब रस चूसै
हंसि-हंसि के तन मन धन मूसै
जाहिर बातन में अति तेज
क्यों सखि साजन नहीं अंगरेज ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी, "भारत-जननी" नाटक में यह स्वीकार करते हैं यदि अंग्रेज देश पर शासन करने न आते तो देश का विनाश होता रहता । यह बात चिपलुङ्कर और हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त उस काल के शिक्षित मध्यवर्ग के अधिसंख्य में पायी जाती थी ।

डा. रामविलास शर्मा का नवजागरण कालीन बौद्धिक वर्ग को खाने में बाँटकर देखने वाला एक और विवादास्पद कथन है --

"उद्योगीकरण और आधुनिक विज्ञान का विरोध करने वाली विचारधारा का स्रोत गुजरात है ।"[14] रामविलास जी की इस व्याख्या पर टिप्पणी करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है "हिन्दी नवजागरण के साहित्य में रहस्यवाद और गाँधीवाद के होने का दोष बंगाल और गुजरात के मत्थे मढ़कर हिन्दी नवजागरण को निर्दोष साबित करना उचित नहीं लगता"[15] क्या गाँधी का योगदान केवल भारतीय नव-जागरण में औद्योगिकरण के विरोध को विचारधारा तक सीमित है या "गाँधीवादी नेताओं की अहिंसा अंग्रेजों के लिए थी मजदूरों और किसानों के खिलाफ उन्होंने हिंसा के व्यवहार में कभी कोताही नहीं की"[16] रामविलास जी का यह दृष्टिकोण अतिसरलीकरण का एक बहुत ही अच्छा नमूना है, गाँधी जी ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरूआत चँपारन में "नील उत्पादक किसानों पर अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे अत्याचार के विरूद्ध आन्दोलन से की, यह हिन्दी क्षेत्र में ही पड़ता है । ऐसा एक भी उदाहरण नहीं, जिसमें गांधी ने किसानों के उपर कोई हिंसक कार्यवाही की हो । चंपारन-सत्याग्रह में गांधी जी ने किसानों के हितों की रक्षा के लिए जमकर संघर्ष किया । इस दौरान गांधी जी पर आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने अंग्रेजों के पक्ष में कार्य किया तथा जबरन वसूली का केवल 25% ही उनसे वापस करा पाये इसमें बहुत दम नहीं है । इसी तरह की एक दो घटनायें और हैं जिनसे गाँधी जी को किसानों का विरोध और पूँजीपतियों का समर्थक ठहराने की कोशिश की जाती है, मगर इससे ही गाँधी जी के किसानों और देश की गरीब आम जनता तथा अश्पृश्यों के पक्ष में चेतना जगाने की उनकी भूमिका कम नहीं हो जाती न ही इससे इस वर्ग में गाँधी की लोकप्रियता पर ही कोई असर पड़ता है । क्योंकि गांधी जी के पूँजीपति

समर्थक कार्य समय की माँग की उपज थे, जानबूझकर ऐसा उन्होंने नहीं किया था, इसी कारण वे लोकप्रिय भी बने रहे । इसलिए रामविलास जी का यह आरोप बिल्कुल निराधार है कि गाँधी और गाँधीवाद ने किसानों के उपर हिंसक कार्यवाही की, हाँ, गाँधी जी कम से कम वैचारिक क्रान्ति में विश्वास तो नहीं ही करते थे जैसी क्रान्ति रामविलास जी करना चाहते हैं । गाँधी जी का जीवन की ठोस सच्चाईयों से गहरा लगाव था इसीलिए उन्होंने अपने संघर्ष का साथी आम आदमी को बनाया तथा उसी के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे । उनका संघर्ष अन्याय के विरूद्ध था चाहे वह जिस किसी पर हो किसानों, मजदूरों या देश की अल्पसंख्यक जातियों पर इससे मुक्ति के लिए उन्होंने बराबर उनका साथ दिया । ए.आर. देसाई ने ठीक ही लिखा है — "गाँधी राजनीति के क्षेत्र में तो महान व्यक्तित्व थे ही, वे बहुत बड़े समाज सुधारक भी थे, वे मानवता की भावना से ओत-प्रोत थे और उन्होंने सामाजिक संबंधों के हर क्षेत्र में अन्याय के विरूद्ध जेहाद किया । सबसे अधिक प्रताड़ित वर्ग के विरूद्ध हिन्दू समाज के चिरकालीन जघन्य अपराध के प्रतीक अश्पृश्यता की क्रूर बर्बर प्रथा की उन्होंने नैतिक आक्रोश के आग्नेव शब्दों में भर्त्सना की । इस अतिशय अमानुषिक प्रथा के निवारण उन्मूलन के लिए उन्होंने संघर्ष किये और इसे अपने राजनीतिक कार्यक्रम का आवश्यक अंग बनाया । उन्होंने उच्च वर्ग के हिन्दुओं के नैतिक अभाव का जोरदार शब्दों में आह्वान किया और युगों के अन्याय के विरूद्ध उनकी विवेक बुद्धि को जागृत करने की चेष्टा की ।[17] गाँधी के ऐसे विशाल व्यक्तित्व पर यह आरोप लगाना कि उन्होंने किसानों के हितों की अनदेखी की और तब जब कि गाँधी का सम्पूर्ण जीवन ही उन्हीं की मुक्ति के संघर्ष में बीता हो कहीं से तर्कसंगत नहीं लगता ।

क्या गाँधी ने हमें साम्प्रदायिक की समस्या से जुझने का मूल मंत्र नहीं दिया, अगर हम गाँधीवाद की सीमा यहीं तक देखते हैं कि उसने हमें उद्योगीकरण के विरोध की विचारधारा दी है, तो इसकी तुलना आज के गुजरात और हिन्दी क्षेत्र के किसी भी प्रदेश की अर्थ-व्यवस्था से तुलना करके वास्तविक स्थिति जान सकते हैं । काश ! हमने वही विचारधारा ठीक से अपना ली होती । तब आज हिन्दी क्षेत्र को इस गरीबी और जहालत ना सामना नहीं करना पड़ता, आज हमारी अर्थव्यवस्था "बिमारू" अर्थव्यवस्था नहीं कही जाती ।

डा. रामविलास शर्मा के विवेचन में इस तरह की जितनी कमजोरियाँ आयी हैं, उनका एकमात्र कारण है उनका जातीय आग्रह मैथिलीशरण गुप्त की तरह अतीत का राग अलापते समय सर्वप्रथम रामविलास जी जीवन की वास्तविकताओं से कट गये हैं तथा दूसरी ओर अपने दरवाजे चारों तरफ से बन्द करके उन्होंने नवजागरण की खोज शुरू की है, जहाँ बाहर से परिन्दा भी पर न मार सके । अगर हम इतने ही श्रेष्ठ थे तो आज ऐसी स्थिति क्यों है जिसकी ओर मैनेजर पाण्डेय ने इशारा करते हुए लिखा है "रामविलास जी की राय है कि हिन्दी नवजागरण पूरी तरह क्रान्तिकारी था, स्वतंत्रता के बाद हिन्दी भाषी क्षेत्र की राजनीतिक चेतना का पिछड़ापन और हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद विरोधी प्रवृत्तियों का प्रसार साबित करता है कि हिन्दी नवजागरण वैसा क्रान्तिकारी न था जैसा उसे सिद्ध किया जाता है ।"[18] डा. रामविलास शर्मा को हिन्दी नवजागरण की अवधारणा हिन्दी भाषी जनता के गर्व को बढ़ाती है मगर इसमें क्षेत्रीयता का पुट देकर रामविलास शर्मा ने हिन्दी भाषी जनता की अखिल भारतीय चेतना को खंडित कर दिया है । हमारी संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता मानी जाती है "अनेकता में एकता" यहाँ

की समाज व्यवस्था के साथ-साथ यहाँ की विचारधारा पर भी यह सूत्र लागू होता है, लोक कल्याण की भावना और स्वतंत्रता की आकांक्षा लेकर चली नवजागरण की धारा अनेक भागों में विभाजित होते हुए भी एक संदेश लेकर चलती है, इसी की ओर रामस्वरूप चतुर्वेदी का संकेत है "राममोहन राय से गाँधी तक यह विचार और कर्म यात्रा है जिसे बनाने और बढ़ाने में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द जैसे कई मनीषियों का विशिष्ट योगदान रहा है ।"[19] तथा सच्चे अर्थों में नवजागरण की मूल चेतना "विरुद्धों का सामंजस्य" विचारधारात्मक और बौद्धिक स्तर पर ही परिलक्षित होती है ।

II

आधुनिक हिन्दी साहित्य में "रहस्यवाद" बंगाल से आया माना जाता है । हिन्दी में "रहस्यवाद" शब्द का प्रयोग 1920 से पहले नहीं मिलता । इस सम्बन्ध में नामवर सिंह ने लिखा है - "जब मुकुटधर पाण्डेय सुमित्रानन्दन पंत, जयशंकर प्रसाद, की नवीन कविताएँ प्रकाश में आयीं तो उनकी आलोचना प्रत्यालोचना के सिलसिले में "रहस्यवाद" शब्द का प्रयोग किया गया । कवीन्द्र रविन्द्र की गीतांजलि की कविताओं को देशी-विदेशी आलोचकों ने "मिस्टिक" कहा था, इसलिए हिन्दी में भी उस तरह की कविताओं को "मिस्टिक" और उसमें निहित भावधारा को मिस्टिसिज्म समझकर उनके लिए हिन्दी शब्द रहस्यवाद चलाया गया ।"[20]

हिन्दी आलोचना में रहस्यवाद को लेकर शुरू से ही काफी विवाद रहा है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद को अभारतीय कहकर इसकी आलोचना की थी, शुक्ल जी आधुनिक रहस्यवाद ही नहीं बल्कि कबीर आदि सन्तों की वाणियों में आये रहस्यवादी तत्वों के आलोचक हैं ऐसा शुक्ल जी ने किसी आग्रहवश नहीं बल्कि स्वतंत्रता की आकांक्षा से प्रेरित होकर तथा अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से बचने के उद्देश्य से किया है । बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशक में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लेखक पश्चिमी आलोचना जगत से बहुत प्रभावित थे, पश्चिम द्वारा दी गयी साहित्यिक शब्दावली को वे बिना किसी विश्लेषण के वे यों ही आंख मूंदकर स्वीकार कर लिया करते थे जिसमें न तो कोई स्वतंत्र विचार होता था और न ही मस्तिष्क में उससे कोई भाव जगता था, शुक्ल जी इसी प्रवृत्ति का विरोध कर रहे थे । उन्होंने लिखा भी है -- "किसी साहित्य में केवल बाहर की भद्दी नकल उसकी अपनी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सकती । बाहर से सामग्री आए, खूब आये पर वह कूड़ा करकट के रूप में न इकट्ठी की जाए । उसकी कड़ी परीक्षा उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाय जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुँचे ।"[2]

इसी सम्बन्ध में शुक्ल जी ने रविन्द्रनाथ टैगोर की आलोचना केवल इसलिए की है क्योंकि एक तो उनके आगमन से हिन्दी में "स्वतंत्र रूप से विकसित हो रही "अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली" बाधित हुई दूसरे उनके आगमन से बंगाल में जिस तरह की "छायाभास" वाली

कविताएँ लिखी गयी उनमें पाश्चात्य ढाचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद था - शुक्ल जी के ही अनुसार "गुप्त जी और मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा स्वच्छन्द नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थी । परन्तु ईसाई संतों के छायाभास (फैंटास्माटा) तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (सिंबालिज्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंग्ला में ऐसी कविताएँ छायावाद कही जाने लगी थी । यह "वाद" क्या प्रकट हुआ, एक बने बनाये रास्ते का दरवाजा सा खुल पड़ा और हिन्दी के कुछ कवि उधर एकबारगी झुक पड़े । यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था । इनका दूसरे साहित्य क्षेत्र में प्रकट होना कई कवियों का इस पर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनों तक इसके भीतर अंग्रेजी और बंग्ला की पदावली का जगह जगह ज्यों का त्यों अनुवाद रखा जाना, ये बातें मार्ग की स्वतंत्र उद्भावना नहीं सूचित करती ।"[22]

शुक्ल जी ने "रहस्यवाद का विरोध केवल कविता में किया है । योगियों और तांत्रिकों में प्रचलित रहस्यवाद को वे बुरा नहीं मानते मगर काव्यभूमि के निर्माण में प्रयुक्त रहस्यवाद का उन्होंने विरोध किया है । शुक्ल जी का रहस्यवाद विरोध स्वतंत्रता की आकांक्षा से प्रेरित है, उनके विरोध में डा. रामविलास शर्मा के विरोध की तरह क्षेत्रीयता और अहं का बोध नहीं दिखाई पड़ता, इसी दृष्टिकोण से प्रेरित रामविलास शर्मा की नवजागरण संबंधी अवधारणा में, उनके रहस्यवाद संबंधी विचारों ने भी हिन्दी आलोचना में विवाद खड़ा किया है ।

डा. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण में रहस्यवाद के संबंध में अपने विचार रखे हैं । उनके अनुसार "यह नवजागरण अतीत के प्रति भावुकता पुनरूत्थानवाद और रहस्यवाद की दृष्टि नहीं अपनाता इसीलिए हिन्दी में अद्वैतवाद उपनिषदों और रविन्द्रनाथ के रहस्यवाद की चर्चा 1920 से पहले कम होती है । हिन्दी नवजागरण मूलत: बुद्धिवादी और रहस्यवाद विरोधी है । कुछ समय के लिए रहस्यवादी धारणायें उस पर हावी होती दिखाई देती हैं पर पूरी तरह नहीं । प्रेमचन्द अपनी जगह अडिग रहते हैं और उनका साहित्य अनेक महारथियों के सम्मिलित कृतित्व से बढ़कर है । नये रहस्यवाद का मूल स्रोत बंगाल है ।"[23]

डा. रामविलास शर्मा की इस दृष्टिकोण की सम्यक आलोचना डा. नामवर सिंह ने की है । उन्होंने आलोचना (79) के संपादकीय में लिखा है "जिस रहस्यवाद को हिन्दी नवजागरण पर बंगाल ने प्रभाव के रूप में निरूपित किया जाता है वह भी एक तरह से समूचे भारतीय नवजागरण का अभिन्न अंग है । यह रहस्यवाद दस नववेदान्त की देन है जिसका एक रूप रविन्द्रनाथ में विकसित हुआ तो दूसरा रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द में । हिन्दी के प्रमुख छायावादी कवियों में कितनों ने रविन्द्रनाथ से रहस्यवाद ग्रहण किया, इस विषय में संदेह भले हो पर इसमें संदेह की गुंजाइश कम ही है कि निराला के रहस्यवाद का आधार विवेकानन्द का नववेदान्त था और प्रसाद के रहस्यवाद का आधार शैवागम । यह सच है कि यह नववेदान्त हिन्दी में उसी तरह बंगाल से आया जैसे हिन्दी नवजागरण में और भी बहुत सी बातें बंगाल से आयी किन्तु इस नववेदान्त के सहारे निराला और प्रसाद ने जिस प्रकार सामन्त-विरोधी और साम्राज्य-विरोधी संघर्ष का साहित्य रचा

वह रहस्यवाद विरोधी बौद्धिकता द्वारा रचे हुए साहित्य से घट कर है ऐसा कहने का साहस कम ही लोग करेंगे ।"[24]

डा. नामवर सिंह के विश्लेषण में अखिल भारतीयता की नवजागरण की मूल चेतना को स्वीकार किया गया है, तथा नव-जागरण की प्रकृति की भी ठीक से व्याख्या की गयी है । रामविलास शर्मा के यहां नवजागरण को खण्डों में बाँटकर देखने से इसमें बाधा आयी है । हम राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द, रविन्द्रनाथ टैगोर आदि समाज सुधारकों तथा धार्मिक और सांस्कृतिक जागरण के नायक महापुरूषों के अवदान को भूलकर तथा बंगाल से आयी एकमात्र "रहस्यवाद" की विचारधारा को आधार मानकर अगर नवजागरण की कोई अवधारणा प्रस्तुत करेंगे तो उसमें इस तरह की खामी आना स्वाभाविक है । टैगोर और विवेकानन्द ने बंगाल में ही रहकर ऐसी बहुत सी बातें कही हैं जिससे नवजागरण की मूल चेतना का विस्तार ही होता है, उसमें खामी ही नहीं आती । उदाहरण के लिए स्वामी विवेकानन्द का यह कथन द्रष्टव्य है जिसके माध्यम से उन्होंने भारतीय नवजागरण की मूल चेतना तथा उसके प्रगतिशील दृष्टिकोण की ओर संकेत किया है - भारतीय धर्म तथा समाज में व्याप्त जड़ता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है - "हमारे सामने खतरा यह है कि हमारा धर्म रसोईघर में न बंद हो जाय हम अर्थात हममें से अधिकांश न वेदान्ती हैं न पौराणिक और न ही तांत्रिक । हम केवल "हमें" मत छुआ, के समर्थक हैं । हमारा ईश्वर भोजन के वर्तन में है, हमारा धर्म यह है कि हम पवित्र हैं हमें छूना मत । अगर यही सब कुछ एक शताब्दी और चलता रहा तो हममें से हर एक

व्यक्ति पागलखाने में होगा ।"[25]

नवजागरण संबंधी विश्लेषण में जितनी भी खामियां आयी हैं, वे खण्ड को समग्र कहने के आग्रह के कारण आयी हैं अपनी-अपनी पसंद से अगर नवजागरण में कुछ भी चुना और छोड़ा जायेगा तो यह संकट आयेगा ही, जैसा रामविलास जी के विश्लेषण में है ।

रामविलास शर्मा की इसी खामी की ओर संकेत करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है - "हिन्दी नवजागरण के साहित्य में रहस्यवाद और गाँधीवाद के होने का दोष बंगाल और गुजरात के मत्थे मढ़कर हिंदी नवजागरण को निर्दोष साबित करना उचित नहीं लगता । इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है कि बंगाल और गुजरात के नवजागरण की विचारधारा में केवल रहस्यवाद और विज्ञान विरोध भी नहीं है, बंगाल और गुजरात के नवजागरण के प्रतिनिधि केवल रविन्द्रनाथ टैगोर और गांधी नहीं है । रविन्द्रनाथ टैगोर तथा गांधी के व्यक्तित्व के अनेक दूसरे महत्त्वपूर्ण पक्ष भी हैं जिनकी भारतीय नवजागरण में सकारात्मक भूमिका है ।"[26] अगर इस दृष्टिकोण से नवजागरण की संवेदना को पहचानने की कोशिश की गयी होती तो इसकी अखिलभारतीयता भी बाधित नहीं होती तथा इसका मूल स्वरूप भी कायम रह पाता ।

हिन्दी आलोचना में डा. रामविलास शर्मा के नवजागरण संबंधी विचारों का कुछ हद तक समर्थन करने वाले विद्वान रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी रामविलास शर्मा की नवजागरण को टुकड़े में बाँट कर

देखने की प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं किया है, रामस्वरूप चतुर्वेदी ने नवजागरण की मूल चेतना "विरुद्धों का सामंजस्य" मानते हुए इसका विश्लेषण किया है, जिससे नवजागरण का अखिल भारतीय चरित्र उभरता है इसी की ओर संकेत करता हुआ उनका यह कथन - "समग्र और सम्पूर्ण मनुष्य की परिकल्पना भारतीय पुनर्जागरण चेतना के केन्द्र में है । इसका आरंभ राजा राममोहन राय के व्यक्तित्व में है तो निष्पत्ति महात्मा गांधी के साथ "विरुद्धों का सामंजस्य" जिसे हमने भारतीय मानस की प्रमुख विशेषता कहा है, उसका व्यवहारिक दर्शन इस अवधि में बहुत अच्छे ढंग से किया जा सकता है ।" ज्ञातव्य है कि रामविलास शर्मा न तो राजा राममोहन राय को हिन्दी नवजागरण के अग्रगामी पथप्रदर्शकों में मानते हैं और न ही गाँधी जी को ही हिन्दी नवजागरण को कोई देन स्वीकार करते हैं । इससे हमारे सामने खंडित हिन्दी-नवजागरण की तस्वीर उभरती है, इसमें समग्रता का अभाव दिखाई पड़ता है ।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण (दिल्ली, 1989) पृ. 179
2. हंस, नवम्बर 1995, पृ. 38
3. आलोचना (अक्तू. दिस. 86) पृ. 7
4. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली खण्ड-15, सं. भारत यायावर, (दिल्ली, 1996) पृ. 351
5. - वही - पृ. 352
6. पहल (53) पृ. 171
7. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-5, सं. भारत यायावर (दिल्ली, 1996) पृ. 28
8. पहल (50-51) पृ. 9
9. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, सं. भारत यायावर भाग-15
10. हंस फरवरी 1996 पृ. 66
11. आलोचना (अक्तू. दिस. 86) पृ. 6
12. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण (दिल्ली, 1989), पृ. 18
13. सुधीर चन्द्र, राष्ट्रवाद विश्व युद्धों के मध्य-2 (इ. गा. रा. मु. वि. वि. दिल्ली पृ. 8
14. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण दिल्ली, 1989, पृ. 179
15. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, दिल्ली, 1981, पृ. 192

16. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, दिल्ली, 1989, पृ. 40
17. ए.आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि दिल्ली, 1988, पृ. 279
18. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, दिल्ली, 1981, पृ. 192
19. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास इलाहाबाद, 1991, पृ. 98
20. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ इलाहाबाद, 1991, पृ. 45
21. रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, वाराणसी, पृ. 312
22. - वही - पृ. 353
23. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण दिल्ली, 1989, पृ. 179
24. आलोचना (अक्तू. दिस. 1986 पृ. 7
25. विपिन चन्द्र, आधुनिक भारत (दिल्ली) पृ. 153
26. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, दिल्ली, 1981 पृ. 192

अध्याय-3

"ऐतिहासिक संदर्भ सामाजिक आधार"

"ऐतिहासिक संदर्भ सामाजिक आधार"

उन्नीसवीं शताब्दी का काम भारत में औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध व्यापक जागृति का काल था । यह दौर भारत में औपनिवेशिक शासन के मूल्यांकन का दौर भी था । साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था द्वारा अब तक जारी दमनकारी और शोषणात्मक नीतियों का विश्लेषण कर राष्ट्रवादियों ने समाज में व्यापक जागृति लाने की कोशिश की । यहाँ हम औपनिवेशिक शासन द्वारा लागू की गयी उन आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक नीतियों की चर्चा के साथ, जिनके विरोध में भारत में जनजागरण की प्रक्रिया शुरू हुई, का विश्लेषण करने के साथ ही ; इस जागरण के सामाजिक आधारों का मूल्यांकन भी इसी अध्याय में करने की कोशिश हम करेंगे ।

औपनिवेशिक आर्थिक शोषण ने भारतीयों की चेतना को सबसे अधिक प्रभावित किया । 1757 के बाद से जारी अंग्रेजों की आर्थिक नीति द्वारा जिस तरह से भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण किया गया और जिस तरह से धीरे-धीरे भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में स्थान्तरित करने की कोशिश की गयी ; इसके विरोध में तत्कालीन शिक्षित भारतीय समुदाय में जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई ; तथा अंग्रेजों की इन नीतियों का विरोध तथा उनके मूल्यांकन की प्रक्रिया शुरू हुई जिसका प्रतिनिधित्व दादा भाई नौरोजी ने किया । उन्हीं के समकालीन अन्य लोगों में रमेशचन्द्र दत्त, महादेव गोविन्द रानाडे, चिपलुणकर आदि प्रमुख राष्ट्रवादियों ने भी अंग्रेजों की आर्थिक नीति का तार्किक आधार पर विश्लेषण कर इस बात को रेखांकित किया कि किस तरह अंग्रेजों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को नष्ट कर उसे एक निर्धन देश में परिवर्तित कर दिया है और वहां के

उद्योगों – कृषि तथा वाणिज्य को किस प्रकार उन्होंने क्षति पहुंचायी है । दादाभाई नौरोजी ने कहा, "ब्रिटिश शासन एक स्थायी बढ़ता हुआ तथा लगातार बढ़ता हुआ ब्रिटिश आक्रमण है जो धीरे-धीरे सही मगर पूरी तरह से देश को नष्ट कर रहा है ।"

आरंभिक राष्ट्रवादियों ने भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों के विकल्प भी सुझाये, उन्होंने सिर्फ विरोध तक ही अपने आप को सीमित नहीं रखा । इन लोगों का मानना था कि भारत में अंग्रेजों ने परंपरागत भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों को नष्ट किया है, लागानों आदि में पूंजी निवेश कर भारत में इसके निर्यात को क्षति पहुँचायी है, तथा रेलवे आदि में पूँजी-निवेश कर उन्होंने परंपरागत भारतीय औद्योगिक ढाँचे को विनष्ट करने की कोशिश की है । अंग्रेजों की इन नीतियों का विरोध करते हुए उन्होंने भारत का विकास करने के लिए स्वदेशी उद्योगों को बढ़ावा देने तथा परंपरागत भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों को पुनः शुरू करने की वकालत की । राष्ट्रवादियों की मूल चिन्ता भारतीय धन और सम्पत्ति के पलायन को लेकर थी, उन्होंने इसे रोकने के लिए बराबर औपनिवेशिक शासन से अपीलें कीं, आरंभिक राष्ट्रवादी किसानों की समस्या से भी चिंतित थे । अंग्रेजों द्वारा भारत में लागू की गयी भू-राजस्व व्यवस्था द्वारा जिस तरह से किसानों का शोषण हो रहा था, तथा जिस प्रकार भारतीय कृषि का वाणिज्यिकरण किया जा रहा था, के विरुद्ध भी उन्होंने आवाज उठायी तथा मालगुजारी में रियायत की माँग की, उन्होंने नमक कर हटाने की मांग की । अंग्रेजों द्वारा जारी इस आर्थिक शोषण द्वारा भारत में गरीबी का स्तर बहुत ऊंचा हो गया तथा यहाँ के निवासियों के जीवन तथा सम्पत्ति को खतरा पैदा होने लगा । इसी स्थिति

पर अपनी न्यायपूर्ण टिप्पणी में दादाभाई नौरोजी ने कहा है, "मजे की बात यह है कि भारत में जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा प्राप्त है, मगर यथार्थ में ऐसी कोई बात नहीं है ।···· भारत की सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है । जो कुछ सुरक्षि त और अच्छी तरह सुरक्षित है, वह यह है कि इंग्लैंड पूरी तरह सुरक्षित तथा निश्चिंत है । और इस तरह पूरी सुरक्षा पाकर वह इस समय तीन या चार करोड़ पौंड प्रति वर्ष की दर से भारत की संपत्ति बाहर ले जा रहा है या यहीं उसका भक्षण कर रहा है । ···· इसलिए मैं यह कहने की जुर्रत करूंगा कि भारत की सम्पत्ति या उसके जीवन को सुरक्षा प्राप्त नहीं है । भारत के लाखों लोगों के लिए जीवन का अर्थ आधा पेट भोजन या भुखमरी या अकाल और महामारी है ।"[2]

उपनिवेशावाद की अर्थशास्त्रीय मीमांसा का कार्य सम्पूर्ण भारत में एक ही उद्देश्य से चलाया जा रहा था, वह उद्देश्य था, भारत में अंग्रेजी शासन के मूल चरित्र को उजागर करना । हिन्दी क्षेत्र भी इस वैचारिक संघर्ष में कभी पीछे नहीं रहा, यहाँ भी इस मुद्दे पर व्यापक चेतना जगाने की कोशिश की गयी, हिन्दी क्षेत्र के लेखक वर्ग द्वारा नाटकों तथा कविताओं में ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीति की कटु आलोचना की गयीं । इसकी गूंज हमें हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु में ही मिलने लगती है, बाद में प्रतापनारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द आदि के साहित्य में ब्रिटिश उपनिवेशवादी आर्थिक नीतियों के विरोध का स्वर सुनाई पड़ता है । स्वयं भारतेन्दु अंग्रेजी शासन में सुख चैन की बात को स्वीकार करते हुए भारतीय धन के ब्रिटिश शासन द्वारा दोहन से काफी चिंतित दिखाई पड़ते हैं । स्वयं उन्हीं के शब्दों में —

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्यारी ।।

भारतेन्दु के इस कथन में अंतर्विरोध हो सकता है मगर उस काल की चेतना के अनुरूप ब्रिटिश शासन के विरुद्ध इस तरह की बात भी एक तरह की धृष्टता मानी जाती थी । नवजागरण काल का कोई भी लेखक इससे मुक्त नहीं था । उस काल बुद्धिजीवियों को जितनी भी गुंजाइश मिलती थी, उसमें वे ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियों की आलोचना से नहीं चूकते थे । अपने सीमित अधिकारों में रहते हुए उस समय के बुद्धिजीवी से किसी क्रांति की आशा करना व्यर्थ है । देश-दशा पर उनके आंसुओं ने ही बाद में राष्ट्रीय आन्दोलन को साम्राज्यवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए विवश किया ; उन्हीं के बौद्धिक विवेचनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को बाद में वैचारिक आधार दिया जिसके माध्यम से संघर्ष करते हुए हम स्वतंत्रता प्राप्त कर सके ।

भारतेन्दु ने देश में कला कौशल तथा उद्योग धन्धों के ह्रास पर भी अपनी चिन्ता व्यक्त की । 26 फरवरी 1874 की कविवचन सुधा में उन्होंने लिखा — "क्या यह अनीति नहीं है कि अनुमान दो सौ वर्ष हुए, इनका अधिकार इस देश में है । इन्होंने हमारे धन-धान्य के विकास में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा सिखाया और सब व्यापार और धन सब अपने हस्तगत किया , क्या यह खेद की बात नहीं है कि हमको कला कौशल से विमुख रखा और आप स्वत: व्यापारी बनकर सब देश भर का धन और धान्य अपने देश में ले गये" ।[3] भारत में उपनिवेश की शासन का सबसे अधिक प्रभाव यहाँ की कृषि व्यवस्था तथा कृषकों पर पड़ा । यहाँ के कृषकों को औपनिवेशिक शोषण ने "कृषि-दास" की स्थिति तक

पहुंचा दिया । भारतीय किसानों का सम्पूर्ण जीवन उनकी गुलामी तथा ऋणग्रस्तता में ही बीता, उसे खाने को दो वक्त की रोटी भी नसीब नहीं थी । नवजागरण काल के बुद्धिजीवी वर्ग ने किसानों के औपनिवेशिक शोषण की जमकर आलोचना की है । भारतेन्दु भी इस कार्य में किसी से पीछे नहीं थे । किसानों की दारुण स्थिति का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है — "खेती करने वालों की यह दशा है कि लंगोटी लगाकर हाथ में तुंबा ले भीख मांगते हैं और जो निरुद्यम हैं उनको तो अन्न की भ्रान्ति है ।"[4]

भारत में औपनिवेशिक शासन के लूट की कटु आलोचना भारतेन्दु के अतिरिक्त और कई लेखकों ने की है । भारतेन्दु के ही समकालीन प्रताप नारायण मिश्र ने भारत में अंग्रेजी राज्य के प्रभाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है —

लबहिं लख्यो जंह रहयो एक दिन कंचन नरसत ।
तहं चौथाई जन रूखी रोटिहुं को तरसत ।।
जहां आमन की गुठली और बिरछन की छालें ।
ज्वार चून महं मेलि लोग परिवारहिं पालें ।।
नौन तेल लकरी घासहुं पर टिक्स लगे जंह ।
चना चिरौंजी मोल मिलै जंह दीन प्रजा कहं ।।

औपनिवेशिक शासन की आलोचना महावीर प्रसाद द्विवेदी के काल में भी जारी रही, बल्कि यों कहें कि इस दौर में इसका स्वर और अधिक तार्किक तथा तीखा होता गया । अर्थशास्त्र के विद्वान महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेजों द्वारा भारत के शोषण को इस रूप में व्यक्त किया गया है — भारतीय हस्तशिल्प उद्योग की बर्बादी पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है "शुरू-शुरू में इंगलिस्तान की गवर्नमेंट ने यहां

के कपड़े की रफ़्तनी को, विलायत में उस पर कड़ा महसूल लगाकर, बिल्कुल ही रोक दिया, यहाँ का व्यापार - यहाँ का कला कौशल मारा गया ।"[5] इस तरह से हम देखते हैं कि नवजागरण काल में अखिल भारतीय स्तर पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रति घोर प्रतिक्रिया मिलती है और लगभग सभी क्षेत्रों में इसका स्वर काफी हद तक उग्र है । इस तरह अखिल भारतीय स्तर पर यह चेतना फैली कि भारत ब्रिटिश शासन शोषण पर आधारित है तथा वह भारत को दिनों दिन गरीबी बदहाली की स्थिति में पहुंचा रहा था, इसके विरुद्ध अखिल भारतीय स्तर पर चेतना जगाकर भारतीय जनमानस में संघर्ष करने की क्षमता का विकास करने की कोशिश की जिसके माध्यम से बाद में उपनिवेशवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष चलाया गया । इसी की ओर संकेत हुए विपन चन्द ने लिखा है — "20वीं सदी के राष्ट्रवादियों ने उपनिवेशवादी अर्थतंत्र के इसी विश्लेषण को अपने आन्दोलन का मुख्य मुद्दा बनाया । गाँधी-युग में भारत के शहर-शहर, कस्बे-कस्बे, और गांव-गांव में युवा आन्दोलनकारियों ने विदेशी शोषण के इस चक्र के प्रति जन-जन को जागरूक किया । इस ठोस आधार पर भारत के बाद के राष्ट्रवादियों ने सुदृढ़ जन-संपर्क और जनान्दोलन चलाये । इस ठोस आधार के कारण उनका आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अथाह शक्ति का मुकाबला कर सका और यह आन्दोलन चीन, मिस्र और अन्य औपनिवेशिक व अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों में चले साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलनों की तरह लड़खड़ा कर बिखरा नहीं ।"[6]

उपनिवेशवादी आर्थिक शोषण के अतिरिक्त 19वीं शताब्दी के नवजागरण के पुरोधाओं को जिस चीज ने सबसे अधिक प्रभावित किया वह है - भारतीय संस्कृति के प्रति उपनिवेशवादी शासन का

दृष्टिकोण । अंग्रेजी शासन ने जिस तरह से भारतीय संस्कृति की खंडित तस्वीर पेश की उसके विरुद्ध तत्कालीन बौद्धिक वर्ग में गहरी प्रतिक्रिया हुई । भाषा तथा संस्कृति के सवाल पर जिस तरह से भारतीयों के ऊपर अंग्रेजी विचारों को थोपने की कोशिश की गयी। आरंभिक राष्ट्रवादियों को संस्कृति के मोर्चे पर दो तरफा संघर्ष करना पड़ा । एक तो औपनिवेशिक शासन द्वारा लादी जा तथा उनके द्वारा संरक्षित संस्कृति के विरुद्ध तथा दूसरे भारतीय धर्म तथा समाज में व्याप्त बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, पाखंडी कर्मकाण्डों के विरुद्ध । इस वैचारिक संघर्ष में इस दौर के राष्ट्रवादियों में अतीत की ओर लौटाने की प्रवृत्ति भी बराबर पायी गयी है, मगर उन्होंने अतीत को वर्तमान की आवश्यकताओं के अनुसार संशोधित रूप में स्वीकार करने की बात की, यह बात अलग है कि कुछ लोग अतीती में ही गोता लगाते रह गये, किसी ने इसमें से मोती निकाला तथा कुछ लोग खारे जल में ही फँसे रह गये ।

1813 के बाद अंग्रेजी सरकार ने भारतीय समाज तथा संस्कृति के रूपान्तरण के लिए सक्रिय कदम उठाये । इसमें से उनके कुछ कदम प्रगतिशील थे तथा भारतीय संस्कृति को हेय दृष्टि से देखा । अंग्रेज यह मानते थे कि भारतीयों की न कोई भाषा है, न कोई धर्म तथा न ही कोई ज्ञान-विज्ञान तथा भारतीयों को इस सबमें शिक्षित करने का तथा उनके बीच ज्ञान-विज्ञान का स्तर ऊँचा करने का एकमात्र ईश्वर प्रदत्त अधिकार उन्हीं के पास है । भारतीय संस्कृति को हीन समझने में अंग्रेजों का जातीय आग्रह सबसे मुख्य कारण था । इसी से प्रेरित होकर उन्होंने भारतीय अतीत की तीखी आलोचना की थी । अंग्रेजों के इस जातीय दम्भ का एक नमूना एक अंग्रेज लेखक के इस कथन में दिखाई पड़ता है, जिससे इसकी आलोचना की गयी है — "हमारे अपने देश के एक व्यक्ति का बयान भी अदालतों में अनेकों हिन्दुओं से अधिक महत्व रखता है । यह एक ऐसी परिस्थिति

है जिसमें शक्ति का एक भयानक साधन एक बेईमान और चालाक अंग्रेज के हाथ में पहुंच जाता है ।" इस कथन से स्थिति की भयानकता का अंन्दाज लगाया जा सकता है । भारतीयों द्वारा अंग्रेजों की इस सांस्कृतिक गुलामी के विरुद्ध यह संघर्ष किसी भी तरह से राजनीतिक गुलामी के विरुद्ध संघर्ष से कम नहीं था । इस दौरान उपनिवेशवाद की छाया में भारतीय संस्कृति के लोप का खतरा बन गया था । इसलिए अपनी संस्कृति की रक्षा का प्रश्न स्वत्व रक्षा का प्रश्न बन गया था ।

स्वत्व रक्षा के क्रम में उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण का सबसे निर्णायक कदम भाषा के क्षेत्र में उठाया गया । दुनियां की किसी भी औपनिवेशिक सरकार या शासन की यह पहली शर्त होती है कि उस उपनिवेश की भाषा को अपने अनुरूप किया जाय, क्योंकि भाषा ही जड़ों तक पहुंचने का माध्यम होती है, इसलिए वह इसके लिए अपना एक भाषाई वर्ग बनाता है जिसके माध्यम से वहां की स्थिति को ठीक से समझ सके । भारत में अंग्रेजों की भाषा-नीति इसी का परिणाम थी । उन्होंने सबसे पहले ईसाई मिशनरियों को भारत में शिक्षा का प्रसार करने की अनुमति देकर यहां की भाषा और संस्कृति के विरुद्ध एक जनमत बनाने की कोशिश की तथा इसे ज्ञान-विज्ञान लिए उपयुक्त मानने से इन्कार किया । तथा अपनी भाषा अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा की व्यवस्था की । स्थानीय भाषाओं को केवल प्राईमरी शिक्षा का माध्यम बनाया गया, उच्च शिक्षा के अनुकूल यह नहीं थी, बाद में वर्नाक्युलर भाषाओं के अखबारों पर प्रतिबंध लगाकर उन्होंने अंग्रेजी की श्रेष्ठता को सिद्ध करने की कोशिश की । एक शिक्षित वर्ग पैदा कर जो भारतीय होते हुए भी विचारों में अंग्रेज था, के माध्यम से उसने भारतीय भाषाओं से लोगों को दूर रखने की कोशिश की, यह बात अलग है कि बाद में इसी

वर्ग द्वारा चलाये गये भारत के स्वाधीनता संघर्ष के माध्यम से भारत में उपनिवेशवाद की समाप्ति संभव हो पायी । अंग्रेजों की भाषा नीति ऐसी थी जिसके माध्यम से भारत में गुलामी का बंधन और मजबूत हुआ । शिक्षित भारतीयों को इसके माध्यम से मानसिक गुलामी के बंधनमें बांध दिया गया, किसी भी उपनिवेशवादी शासन का यह मूल चरित्र होता है जिसमें अंग्रेज सफल रहे । इसी की ओर संकेत करते हुए प्रसिद्ध अफ्रीकी विचारक न्गुगी वाथ्योंगो ने लिखा है "मेरे विचार से भाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है जिसके जरिये आत्मा को वश में किया गया और उसे बंदी बना लिया गया । शारीरिक गुलामी के लिए गोलियों को साधन बनाया गया लेकिन मानसिक और आत्मिक गुलामी भाषा के जरिये थोपी गयी ।"[7]

अंग्रेजों की भाषा नीति के विरोध में भारत में चारों तरफ प्रतिक्रिया हुई । तथा क्षेत्रीय भाषा हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि का विकास और अधिक वैज्ञानिक ढंग से किया गया । भाषा का विकास नवजागरण के विकास से गहरे रूप से जुड़ा हुआ है । आधुनिक काल में गद्य जीवन संग्राम की भाषा के रूप में उभरा । गद्य का विकास जहां पहले हुआ वहां नवजागरण की प्रक्रिया भी पहले शुरू हो गयी । जैसा कि नामवर सिंह ने लिखा है हिन्दी की तुलना में मराठी और बंगला गद्य का विकास चार-पांच दशक पहले हो गया, इसलिए कि वहाँ नवजागरण भी पहले हो गया ।[8] हिन्दी में भारतेन्दु ने निज भाषा का सवाल उठाया — "निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल" कहकर भारतेन्दु ने भाषा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की, उन्हीं के समकालीन प्रतापनारायण मिश्र ने "हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान" कहकर भाषा के सवाल को राष्ट्रीय अस्मिता के सवाल से जोड़ा । मगर उनके इस कथन में हिन्दू-पुनरुत्थानवाद की गूंज भी है, इसलिए बाद में साम्प्रदायिकों ने इसे

हिन्दू-मुस्लिम अस्मिता से जोड़कर साम्प्रदायिक वैमनस्य फैलाने की कोशिश की । महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तो हिन्दी के विकास के लिए जो कार्य किया उसे बताने की आवश्यकता नहीं है । हिन्दी के साथ ही उन्होंने अन्य भारतीय भाषाओं की भी वकालत की तथा अंग्रेजी का विरोध और वह इसीलिए कि अंग्रेजी भारतीय संस्कृति को क्षति पहुंचा रही थी तथा हमारे बीच गौरव की भावना को धीरे-धीरे खत्म कर रही थी, तथा हमें धीरे-धीरे गुलाम बना रही थी । इसी की ओर संकेत करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है — "यदि भाषा गई तो अपनी जातीयता और अपनी सत्ता भी गयी समझिये । बिना अपनी भाषा की नींव दृढ़ किये स्वराज की नींव नहीं दृढ़ हो सकती । जो इस तत्व को समझते हैं वे मर-मिटने तक अपनी भाषा नहीं छोड़ते ।"[9] भाषा का सवाल अखिल भारतीय स्तर पर उठाया गया । महाराष्ट्र, बंगाल, गुजरात, तमिलनाडु आदि सभी प्रान्तों में इस मुद्दे पर जनमत बनाने की कोशिश की गयी । भाषा के सवाल की इसी गंभीरता को देखते हुए बाद में गांधी जी भाषा की मुक्ति के सवाल को राष्ट्रीय मुक्ति से जोड़ा ।

शिक्षा के सवाल पर भी भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने औपनिवेशिक सरकार की आलोचना की है । शिक्षा सवाल भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने गंभीरता से उठाया । मगर इस संबंध में यह भी जान लेना चाहिए कि शिक्षा तथा संस्कृति के विकास के संबंध में भारत में दो अवधारणाएँ बराबर प्रचलित रही हैं । एक तरफ भारतीय दृष्टिकोण, जिसमें खासतौर पर आर्यसमाजी दृष्टिकोण है जो भारतीय संस्कृति तथा शिक्षा व्यवस्था का अंध समर्थक था, जिसके अनुसार समस्त ज्ञान की खान वेद हैं । उसी में सम्पूर्ण विश्व का उत्कृष्ट ज्ञान समाहित है । दूसरी तरफ अंग्रेजी दृष्टिकोण है जो कि भारतीय ज्ञान को दुनियां का सबसे निकृष्ट ज्ञान की संज्ञा

दी, जिस दृष्टिकोण का समर्थक मैकाले था । उसी के अनुसार भारतीय औषधि विज्ञान में जिस तरह के सिद्धांत हैं उन पर इंगलैंड के एक देहाती वैद्य को भी शर्म आयेगी और जिस तरह का खगोल-शास्त्र भारत में प्रचलित है, उस पर इंग्लैंड में स्कूली लड़कियां हँसेंगी। यहां का इतिहास लेखन तीस फुट लम्बे राजाओं की कहानी है जिनका शासन काल तीस-तीस हजार बरस तक चला। यहाँ भूगोल का अर्थ है घासनी और मक्खन के समुद्र ।"[10] इस तरह के दो अतिवादी दृष्टि-कोण भारतीय शिक्षा और संस्कृति के बारे में प्रचलित थे, एक तरफ मैकाले हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति को पूरी तरह नकारा तथा दूसरी तरफ आर्य समाजी स्वर्ण युग वाला दृष्टिकोण । इसी के कारण भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं के बीच बराबर इस मुद्दे पर बहस चलती रही कि किसे स्वीकार किया जाय । खतरे दोनों से थे, एक तरफ ब्राह्मणों द्वारा दी जाने वाली वेद पुराणों की शिक्षा थी जिसका उपयोग मूलत: जाति व्यवस्था को सर्वजनीन मानने तथा उसे स्वीकृति प्रदान करने के लिए किया गया ; तथा वेदों की सत्यता प्रमाणित करने की कोशिश की गयी ; जो निरर्थक था । तथा दूसरी ओर इसके विपरीत मत का समर्थन करने से अपनी अस्मिता को खो जाने का खतरा था, जाहिर है बीच का रास्ता ही कोई मार्ग सुझा सकता था । आधुनिक भारतीय राष्ट्रवादियों तथा नव-जागरण के अग्रदूतों का महत्व इसी बात में है कि उन्होंने इसका एक तरीका खोजा, जिसमें पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के अनुसरण के साथ-साथ भारतीय अस्मिता की सुरक्षा भी संभव हो सके । राजाराम मोहन राय भारत में इस दृष्टिकोण के अग्रणी समर्थकों में थे । जैसा कि ए० आर० देसाई ने ठीक ही लिखा है — "राजाराम मोहन राय प्रगतिशील आधुनिक शिक्षा के अग्रणी थे । उन्होंने पश्चिम के देशों के आधुनिक वैज्ञानिक और प्रजातांत्रिक विचारों के आगार के रूप में

अंग्रेजी शिक्षा का स्वागत किया । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि शिक्षा की प्राचीन पद्धति को जारी रखने का अर्थ है अंधविश्वास और अधिकार एवं कालजन्य प्रामाणिकता को जारी रखना" [1] राजा राम मोहन राय के इस दृष्टिकोण में न तो अतीत का आग्रह है और न ही अंग्रेजों सा वह दंभ जिसमें वे सम्पूर्ण दुनियाँ को अंग्रेज बनाने की बात कहा करते थे ।

अब सवाल यह है कि आधुनिक शिक्षा ने किस हद तक भारतीयों के बीच उपनिवेशवादी विरोध की विचारधारा जगाने में योगदान दिया । कुछ लोग मानते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद अंग्रेजों की शिक्षा नीति का परिणाम था । यह बात बुनियादी तौर पर गलत है । यह धारणा साम्राज्यवादी इतिहासकारों की है । भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म नई सामाजिक भौतिक परिस्थितियों के कारण हुआ । अंग्रेजों ने भारत विजय के बाद जिस तरह से भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण किया, तथा भारतीयों के राजनीतिक अधिकारों को छीना और समाज की गतिशीलता को बाधित करने की कोशिश की उसी का परिणाम है भारतीय राष्ट्रवाद ।

उपनिवेशवादी शासकों ने जिस तरह से भारतीय समाज व्यवस्था तथा धर्म के मामले में हस्तक्षेप किया, उससे भी भारतीयों के मन में उपनिवेशवादी शासकों के प्रति आक्रोश फैला । धर्म जैसे संवेदनशील मामले में हस्तक्षेप कर अंग्रेजी सरकार ने इसे और भड़काया । जैसा कि हम जानते हैं कि 1857 के विद्रोह का तत्कालीन और महत्वपूर्ण कारण धार्मिक मामले में हस्तक्षेप ही था । ब्रिटिश भारत में ईसाई मिशनरियों के बढ़ते प्रभाव तथा उनको मिल रहे सरकारी संरक्षण ने भी, उनकी शंका को और पुष्ट किया - स्कूलों, कालेजों और अस्पतालों में देखे जाने वाले मिशनरी लोग हिन्दू धर्म तथा

ईस्लाम पर तीव्र प्रहार कर लोगों को ईसाई बनाने का प्रयास करते थे, तथा उनकी परंपराओं की खुलकर आलोचना करते थे, तथा उनकी हंसी उड़ाते थे जिससे लोगों को उनकी मंशा का धीरे-धीरे पता चल गया । सरकार ने 1850 में एक कानून बनाया जिसके अनुसार ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों को पैतृक सम्पत्ति में अधिकार मिल गया, जिससे लोगों की शंकायें और बढ़ गयीं तथा वे इनका विरोध करने लगे ।

सरकार द्वारा किए गये मानववादी उपायों से भी लोगों के मन में उसके प्रति असंतोष उभरा । सती प्रथा, विधवा-विवाह, स्त्री शिक्षा आदि कुछ ऐसे प्रगतिशील उपाय थे जिसके माध्यम से अंग्रेजों ने भारतीय समाज व्यवस्था की कुछ अपरी खामियों को दूर करने की कोशिश की, मगर इसे भी उस दौर के कु कट्टरपंथी लोगों ने अनधिकार प्रवेश की चेष्टा कह कर इसका विरोध किया । सरकारके एक और कदम ने जिसके द्वारा मंदिरों और मस्जिदों से कर वसूलने की व्यवस्था की गयी, ने भी लोगों की धार्मिक भावनाओं को भड़काया। वैसे तो धर्म तथा समाज व्यवस्था के संबंध में अधिकांश व्यवस्थायें आधुनिक लोकतांत्रिक धारणाओं के अनुकूल लगती हैं तथा प्रगतिशील हैं । रूढ़िवाद और कट्टरता के उस युग में अंग्रेजों द्वारा उठाये गये ये कदम और इसका महत्व उन लोगों को समझ नहीं आया, इसलिए वे अंग्रेजी उपनिवेशवाद विरोधी मोर्चे में शामिल हो गये जिसका उत्कर्ष 1857 के स्वतंत्रता संघर्ष में दिखाई पड़ता है ।

इसके अतिरिक्त अंग्रेज शासकों द्वारा भारतीय राजनीतिक मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप ने भी भारत में राष्ट्रीयता के स्वर को तेज किया । 1757 के बाद से अंग्रेजों ने अनेक भारतीय मामलों में हस्तक्षेप किया । उनकी व्यपगत सिद्धांत की नीति, सहायक संधि की नीति, तथा इस तरह की अनेक नीतियों ने सर्वप्रथम भारतीय

रजवाड़ों को अपना दुश्मन बना लिया तथा आदिवासियों और किसानों के मामले में हस्तक्षेप ने आम भारतीय नागरिक को भी नाराज कर दिया । ज्ञातव्य है कि 1859-60 का बंगाल का नील आन्दोलन भारतीय किसानों के जीवन में अंग्रेजी शासन के हस्तक्षेप से ही शुरू हुआ था जिसको बाद में बंगाल के बौद्धिक वर्ग ने नेतृत्व दिया, तत्कालीन बांग्ला साहित्य में नील-विद्रोह से संबंधित अनेक रचनाएं मिलती हैं जिसमें सर्वप्रमुख है दीनबंधु मित्र का "नील दर्पण" नामक नाटक जिसमें किसानों का अंग्रेजी उपनिवेशवाद द्वारा किये जा रहे शोषण को बहुत ही बारीकी से उठाया गया है ।

आदिवासियों को भी इसी तरह भारत में अंग्रेजी उपनिवेशवाद की मार झेलनी पड़ी, सदियों से एकांगी जीवन बिता रहे आदिवासियों के जीवन में हस्तक्षेप कर उनको विद्रोह के लिए आमंत्रित किया । आम तौर पर शेष समाज से अलग रहने वाले आदिवासियों को उपनिवेशवादी शासन अपने घेरे में खींच लाया, जिससे उनकी एकांगिकता भंग हुई । ब्रिटिश सरकार ने आदिवासी मुखियों को जमींदार का दर्जा देकर, उनके जरिए लगान की नई प्रणाली आदिवासी क्षेत्रों में लागू किया, साथ ही आदिवासी क्षेत्रों में ईसाई मिशनरियों के प्रवेश को भी उपनिवेशवादी शासकों ने प्रोत्साहित किया जिससे उनके परम्परागत धर्म पर खतरा पैदा हो गया जिससे आदिवासियों का शोषण बढ़ा तथा उनकी परम्परागत समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी तथा वे अंग्रेजी राज के दुश्मन बन गये । इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में उपनिवेशवाद ने भारतीय अर्थव्यवस्था, समाज व्यवस्था, राजनीति, तथा सांस्कृतिक मामलों में किस प्रकार से हस्तक्षेप कर भारतीयों को विद्रोह के लिए आमंत्रित किया, तथा सुधारकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया । जिस पर बाद में चलकर भारत में जागरण की एक लहर चली जिसने अंग्रेजी उप-

निवेशवाद तथा परंपरागत भारतीय रूढ़िवादी मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष करते हुए नये भारत के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । इसी की ओर संकेत करते हुए समाजशास्त्री ए० आर० देसाई ने लिखा है "अंग्रेजी शासन के दिनों में भारत में समाज और धर्म सुधार संबंधी जो आन्दोलन शुरू हुए वे भारतीय जनता की उदीयमान राष्ट्रीय चेतना और उनके बीच पश्चिम के उदारवादी विचारों के प्रसार के परिणाम थे । इन आन्दोलनों ने धीरे-धीरे सामाजिक और धार्मिक नवनिर्माण का कार्यक्रम अपनाया और सारा देश इन आन्दोलनों की चपेट में आया । सामाजिक क्षेत्र में जाति सुधार या जाति प्रथा की समाप्ति, औरतों के लिए समानाधिकार, बालविवाह के उन्मूलन और विधवा विवाह के समर्थन, सामाजिक और कानूनी असमानता के विरोध आदि प्रश्नों पर आन्दोलन हुए । धार्मिक क्षेत्र में जो आन्दोलन हुए उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास और मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, वंशानुगत पुरोहिती आदि का विरोध किया। इन आन्दोलनों ने कमोवेश मात्रा में व्यक्ति स्वातंत्र्य, सामजिक एकता और राष्ट्रवाद के सिद्धांतों पर जोर दिया और उनके लिए संघर्ष किये ।" [12]

उन्नीसवीं सदी में भारतीय नवजागरण की शुरुआत बंगाल से हुई । इसके पश्चात ही नवजागरण का अखिल भारतीय स्तर पर विकास हुआ, मगर इसका सामाजिक आधार अभिन्न भारतीय स्तर पर एक समान नहीं था, अपने उद्देश्य में एक होते हुए भी नवजागरण की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न क्षेत्रों, अलग-अलग सामाजिक वर्गों के नेतृत्व में चलायी गयी ; अर्थात् इसका सामाजिक आधार सर्वत्र एक सा नहीं था, यहाँ हम अखिल भारतीय स्वर जिसमें मुख्यत: बंगाल, महाराष्ट्र तथा हिन्दी क्षेत्र शामिल होंगे, के सामाजिक आधार की चर्चा करेंगे

तथा विभिन्न संगठनों द्वारा किए गये समाज सुधार के कार्यों और जनजागरण के लिए उनके प्रयासों की चर्चा करेंगे ।

बंगाल से उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण की शुरूआत हुई । अंग्रेजी शासन का प्रभाव सबसे पहले बंगाल पर पड़ने के कारण वहां पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान तथा आधुनिक विचारों का सूत्रपात पहले हुआ; तथा इसके माध्यम से पढ़े लिखे वर्ग की एक जमात सबसे पहले बंगाल में ही बनी और सरकारी नौकरियों में इस वर्ग ने स्थान पाया। इस वर्ग को बंगाल के संदर्भ में "भद्रलोक" कहा गया है । इस वर्ग के अन्दर समाज के नौकरी पेशा तथा जमींदार सभी आते हैं । इस भद्रलोक की संरचना बहुत ही जटिल है । इसमें एक ओर तो राजाराम मोहनराय जैसे बड़े जमींदार शामिल हैं दूसरी ओर ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर जैसे व्यक्ति भी थे, जिन्हें गरीब कहा गया है । मगर हैं दोनों "भद्रलोक" के सदस्य । इस वर्ग में छोटे "क्लर्क" से लेकर उस समय तक सरकारी नौकरी में पदानुक्रम से उनसे बहुत ऊंचे अधिकारी भी शामिल थे । इसी वर्ग ने बंगाल के नवजागरण का नेतृत्व किया । इस वर्ग में राजभक्ति तथा देशभक्ति का स्वर बराबर मिलता है । उन्होंने कभी भारत में ब्रिटिश सत्ता को चुनौती नहीं दी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे व्यक्ति अन्त तक राजभक्त बने रहे, तथा अधिक स्वायत्तता के नाम पर उन्होंने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया । यह वर्ग भारतीय राष्ट्र के निर्माण की इच्छा तो रखता था,परंभिन्न आधार होने के कारण वह इसे कार्यान्वित नहीं कर पा सका ; क्योंकि जिस वर्ग से वे लोग आते थे ; उनका समाज की जड़ों से कोई लगाव नहीं था । इस वर्ग के दो चेहरे थे अपने देशवासियों के साथ कुछ और तथा अंग्रेजी शासकों के समक्ष कुछ अलग ढंग का । उन्होंने अपने वर्गीय हितों की बराबर वकालत करता रहा, इस पर हुए किसी प्रहार को उसने बराबर रिजेक्ट किया ।

अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद इस वर्ग ने अपने राष्ट्रवादी विचारों का एक तबके तक प्रसार किया, जिससे बंगाल में चेतना आयी। तथा इस चेतना को अखिल भारतीय स्तर पर प्रसारित करने का कार्य किया । उन्नीसवीं शताब्दी में सुधार की प्रक्रिया का श्रीगणेश इसी वर्ग के माध्यम से हुआ ।

भारत में नवजागरण की प्रथम अभिव्यक्ति राजाराम मोहन राय के विचारों में मिलती है । इसीलिए उन्हें "भारतीय नवजागरण का पिता" भी कहा जाता है । अपने देश की जनता की दशा से गहरे प्रेरित होकर आजीवन उसके सामाजिक-धार्मिक बौद्धिक और राजनीतिक उत्थान के लिए उन्होंने संघर्ष किया ; तथा उसमें व्याप्त जड़ता और अंधविश्वासों को उखाड़ फेंकने के लिए आन्दोलन चलाया । इसके लिए उन्होंने 1814 में "आत्मीय-सभा" की स्थापना की, जिसका उद्देश्य था बंगाल के हिन्दुओं में व्याप्त धार्मिक व सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध चेतना जगाना .. । राजा राम मोहन राय सच्चे अर्थों में भारतीय धर्म निरपेक्ष मूल्यों के प्रतिनिधि वाहक हैं, उन्होंने हिन्दू धर्म के प्रगतिशील तत्वों के साथ, ईस्लाम के ऐकेश्वरवाद और नीतिपरक शिक्षा और पश्चिम के आधुनिक देशों के उदारवादी बौद्धिक सिद्धांतों को अपनी शिक्षा का आधार बनाया । बाद में 1829 में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की । इसका उद्देश्य भी लगभग वही था जो आत्मीय सभा का था । ब्रह्म समाज में मुख्य बल हिन्दू समाज तथा हिन्दू धर्म को स्वच्छ करना तथा एकेश्वरवाद की शिक्षा पर था । इसके लिए उन्होंने मानवीय तर्कबुद्धि ; तथा वेद एवं उपनिषदों को आधार बनाया ।

भारतीय धर्म में व्याप्त जड़ता के विरुद्ध संघर्ष के साथ उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों पर भी जमकर प्रहार किया,

तथा "सती प्रथा" जैसी जघन्य और अमानवीय प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार किया तथा अंतत: उसे समाप्त कर ही पीछे हटे । उन्होंने जातिवाद तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध भी संघर्ष चलाया तथा इसकी बुराईयों को उजागर किया । हिन्दुओं के समाजशास्त्रीय धर्मग्रंथ "महानिर्वाण तंत्र" के आधार पर यह सिद्ध किया कि जाति प्रथा की अब कोई आवश्यकता नहीं है । उनके "ब्रह्मसमाज" ने जाति प्रथा की निंदा इन शब्दों में की -- "ये हानिकर विभेद जो हमारे जन-जीवन का खून पी रहे हैं, कब समाप्त होंगे ? देवों ने इस देश के लिए जिस श्रेष्ठ, उत्कृष्ट नियति का विधान किया है, उसे पूरा कर सकने के लिए यह देश कब संगठित और शक्तिशाली हो सकेगा । इससे बड़ा सत्य कोई नहीं कि जाति व्यवस्था जो हमारे समाज की सारी बुराईयों के मूल में है, के पूर्ण उन्मूलन के बिना इस नियति की पूर्ति नहीं हो सकती ।"[13]

आरंभिक राष्ट्रवादियों तथा नवजागरण के पुरोधाओं की कुछ सीमाएं थीं, राजाराम मोहन राय भी इससे मुक्त नहीं थे । समाज सुधार, धर्म सुधार तथा नवीन वैज्ञानिक मूल्यों के भारत में प्रतिष्ठापक कहे जाने वाले राजाराम मोहन राय अपने विचारों में आरम्भ में राष्ट्रवादी होते हुए भी, बाद के दिनों में उनके अंदर अंग्रेजी शासन के प्रति श्रद्धा आयी, अंग्रेजों की तमाम कमजोरियों को जानने के बावजूद आरंभिक भारतीय राष्ट्रवादियों ने कभी-भी अंग्रेजों को बाहर निकालने का प्रयास नहीं किया, यह ही नहीं वे अंग्रेजी उपनिवेशवाद के स्थायी रूप से बने रहने की कामना भी कभी-कभी किया करते थे, यह प्रवृत्ति बंगाल ही नहीं बल्कि अखिल भारतीय स्तर पर इस दौर में पायी जाती है, इसे उनकी सीमा मानकर इस मुद्दे को तूल देना आवश्यक और उचित नहीं है ।

राजाराम मोहन राय के बाद ब्रहम समाज को देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा केशवचन्द्र सेन ने आगे बढ़ाया, इन्होंने भी राजाराम मोहनराय के स्वर में ही धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में व्याप्त-जड़ता का विरोध किया । केशवचन्द्र सेन ने भारतीय धार्मिक रूढ़ियों पर खुलकर प्रहार किया, तथा उसे सुधारने की कोशिश की । यह बात अलग है कि बाद में उन्हीं के एक कदम द्वारा ब्रहम समाज में विभाजन हुआ । इससे उनकी काफी आलोचना हुई थी, जिसमें उन्होंने अपनी नाबालिक पुत्री का विवाह कूच बिहार के राजा से किया था। मगर फिर भी आरंभिक नवजागरण के पुरोधाओं में इनका नाम किसी से कम महत्व का नहीं है, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में व्याप्त जड़ता पर प्रहार करती हुई उनकी इस टिप्पणी से, इस संबंध में उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण को जाना जा सकता है — "आज हम जो कुछ अपने इर्द-गिर्द देखते हैं वह एक पतित राष्ट्र है जिसकी प्राचीन महानता ध्वंस होकर बिखरी पड़ी है ।··· अब हम अपने चारों ओर बढ़ते आध्यात्मिक, सामाजिक तथा बौद्धिक सूनेपन का दुखजनक तथा निराशाजनक दृश्य देखते है तो हम इससे कालीदास के काव्य के विज्ञान के तथा सभ्यता के देश को पहचानने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं ।" [14]

बंगाल के बौद्धिक तथा सामाजिक जागरण में ईश्वरचन्द विद्यासागर का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है । खास-तौर पर समाज में स्त्रियों की दयनीय दशा के विरुद्ध चलाये गये उनके संघर्ष से जिससे समाज में स्त्रियों को सम्मानजनक अधिकार प्राप्त हो सका, के लिए उन्हें अगुआ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है । समाज में विधवाओं के लिए सरकार से कानूनी लड़कर उन्होंने उन्हें जो अधिकार दिलाया, वह इतिहास में अविस्मरणीय है । उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1856 का विधवा पुर्नविवाह अधिनियम पारित हो पाया। स्त्री शिक्षा के लिए भी उन्होंने अनेक कार्य किए, तथा लड़कियों के

लिए विद्यालयों की स्थापना की, "बेथुन स्कूल" स्त्री शिक्षा के संबंध में प्रतिनिधि विद्यालय है, जो विद्यासागर के प्रयास ही खुला था । स्वभाव से दयालु विद्यासागर को भारत की जातीय संकीर्णता ने भी बहुत दुखी किया था । उन्होंने संस्कृत शिक्षा के लिए शूद्र विद्यार्थियों को भी योग्य माना । अब तक उन पर कई अपात्रताएँ थीं ।

बंगाल के नवजागरण की क्रांतिकारी परम्परा को और अधिक उत्साह से स्वामी विवेकानन्द ने आगे बढ़ाया । इसके लिए उन्होंने रामकृष्ण मिशन (1896) की स्थापना की । बंगला नव-जागरण की प्रवृत्ति को उन्होंने बदल दिया । अब वहाँ केवल मध्य-वर्गीय हितों की बात ही नहीं होती रही । मजदूर और किसान भी अब धीरे-धीरे चेतना के केन्द्र में आने लगे, तथा अछूतों की समस्याओं को और अधिक तीव्रता से उठाया गया । सर्वधर्म समभाव जो उनके गुरु स्वामी परमहंस के विचारों का मूल था, विवेकानन्द ने भी स्वीकार किया, तथा उन्हीं की परंपरा को आगे बढ़ाया । उन्होंने सभी धर्मों की बुनियादी एकता की घोषणा की जैसा कि सन् 1898 में उन्होंने लिखा "हमारी अपनी मातृभूमि के लिए दो महान धर्मों हिन्दुत्व तथा इस्लाम का संयोग ही एकमात्र आशा है ।" सच्चे वेदांती होते हुए भी उन्होंने इस तरह के धर्म निरपेक्ष मूल्यों की बात कही । विवेकानन्द एक महान मानवतावादी थे । उनमें मनुष्य प्रेम संसार के दीन-दुखियों से प्रेम तथा उनके कष्टों के निवारण की भावना कूट-कूट कर भरी थी । उनकी समस्याओं के समाधान के लिए उन्होंने देशवासियों खासतौर पर बौद्धिक वर्ग को बहुत धिक्कारा । उन्होंने शिक्षित भारतीयों से कहा --"जब तक लाखों-लाख लोग भूख तथा अज्ञान से ग्रस्त हैं, मैं हर उस व्यक्ति को देश-

द्रोही कहूंगा जो उसके खर्च पर शिक्षा पाकर भी उन पर कोई ध्यान नहीं देता ।" [15] उन्होंने हिन्दू धर्म को "रसोईघर में बंद धर्म" कहकर इसकी खिल्ली उड़ायी तथा इसकी जाति व्यवस्था पर तीखा प्रहार किया । विवेकानंद मजदूरों की समस्या से भी काफी चिंतित थे,; तथा उनकी समस्याओं के समाधान के लिए तत्कालीन बौद्धिक वर्ग का आह्वान किया । ऐसा कर उन्होंने बंगला नवजागरण के सामाजिक आधार को बौद्धिक वर्ग के घेरे से निकालकर जनसामान्य तक पहुंचाने की कोशिश की ।

इस काल में सामाजिक तथा सांस्कृतिक जागरण की उठी लहर से बंगला साहित्य भी अछूता नहीं रहा । बंगला साहित्य में भी इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है । बंकिम के उपन्यासों से लेकर रविन्द्रनाथ तक में बंगला नवजागरण की चेतना हम पाते हैं जिसमें राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति के साथ-साथ, समाज-सुधार, तथा धार्मिक संकीर्णता पर गहरी चोट की गयी है । बंगला साहित्य के आरंभिक दौर में खासतौर पर बंकिम की रचनाओं में जातीय आग्रह अधिक दिखाई पड़ता है जिससे इनके यहां हिंदू पुनरुत्थानवाद की झलक भी मिलती है । ऐसा उन्होंने अपनी राष्ट्रीय-अस्मिता को बनाये रखने के लिए किया ; इसे शुद्ध पुनरुत्थानवाद ही न माना जाय । इसके अतिरिक्त बंगला कविता में भी राष्ट्रीय जागरण की चेतना दिखाई पड़ती है । प्रसिद्ध बंगला साहित्यकार रंगलाल बनर्जी की "शर्मिष्ठा" कविता में देश जागरण की भावना को इस रूप में व्यक्त किया गया है —

सोन-गो-भारत भूमि कत निद्रा जावे तुमि
आर निद्रा उचित ना हय
उठत्यज घुमघोर इहिला हाइलाभोर
दिनकर प्राचीते उदय

§सुनो हे ! भारत भूमि तुम्हारी निद्रा कब खत्म होगी और सोना उचित नहीं है अत: निद्रा को छोड़कर उठ जाओ भोर हो रहा है। पूर्व दिशा से सूर्य उदित हो गया है।§

महाराष्ट्र में भी नवजागरण की शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी में ही हो गयी थी । बंगाल के नवजागरण की ही तरह मराठी नवजागरण में भी राष्ट्रीय अस्मिता, सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव दिखाई पड़ता है, बल्कि कुछ अर्थों में मराठी नवजागरण में सामाजिक बुराईयों के प्रति बंग्ला नवजागरण से ज्यादा आक्रोश पूर्ण स्वर सुनाई पड़ता है । बंगाल में जिस तरह से नवजागरण की चेतना जगाने का कार्य बंग्ला "भद्रलोक" या शिक्षित मध्यवर्ग ने किया, यह प्रवृत्ति मराठी नवजागरण में भी है, मगर मराठी शिक्षित मध्यमवर्ग में वर्गीय हितों से चिपके रहने की प्रवृत्ति कम पायी जाती है । यहां नवजागरण का जो सामाजिक-आधार विकसित हुआ उसमें शिक्षित मध्यवर्ग के साथ-साथ समाज की निचली जातियों ने भी सक्रिय योगदान दिया, जो कि बंगाल के नवजागरण में कम है तथा हिन्दी में इसका लगभग अभाव ही है । इसका एक कारण महाराष्ट्र की परंपरा में भी ढूंढा जा सकता है । महाराष्ट्र में 12-13वीं शताब्दी के भक्ति आन्दोलन ने वहां समाज की निचली जातियों में चेतना जगाने का कार्य किया था ; तथा उनके अन्दर सामाजिक सम्मान की भावना भरने की कोशिश की थी, ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, रामदास, आदि की परंपरा का मराठी नवजागरण के सामाजिक आधार को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान है । हमें उन्नीसवीं शताब्दी के नव-जागरण को उसी परंपरा का विकास कहने में कोई हिचक नहीं है, क्योंकि अगर ऐसा न होता तो महाराष्ट्र में ज्योतिबाफुले जैसा समाज सुधारक शायद न पैदा हो पाता । दुर्भाग्य है कि हम हिन्दी के भक्ति आन्दोलन

की क्रांतिकारी चेतना को नहीं अपना पाये । मराठी के उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण में समाज-सुधारकों की भूमिका मुख्य है । यहाँ सुधार का कार्य केवल बुद्धिजीवी वर्ग के जिम्मे ही नहीं रहा । मराठी समाज सुधारकों ने बौद्धिक-विमर्श से थोड़ा हटकर, आम जनता के बीच जाकर उनके अन्दर चेतना जगाने का प्रयास किया ; इससे महाराष्ट्र में सुधार आन्दोलनों का जनन्दोलन का रूप दिया जा सका ; तथा वह बौद्धिक-विमर्श से कहीं ज्यादा प्रभावशाली सिद्ध हुआ ।

मराठी नवजागरण में, जिसका आरंभ 1840 में परमहंस मंडली की स्थापना से माना जाता है, ने सामाजिक सुधार तथा धार्मिक रूढ़ियों की कड़े शब्दों में निंदा की । पश्चिमी भारत के संभवत: पहले धार्मिक सुधारक गोपाल हरिदेशमुख "लोकहितवादी" ने मराठी भाषा में लिखकर धार्मिक जड़ता तथा जातिवादी कट्टरता की निंदा की । पंडे और पुरोहितों के घिनौने कृत्यों को उजागर करते हुए उन्होंने 1840 में लिखा — "पुरोहित बहुत ही अपवित्र हैं, क्योंकि कुछ बातों को बिना उनका अर्थ समझे दुहराते रहते हैं और ज्ञान को इसी रटंत तक भोंडे ढंग से सीमित करके रख देते हैं ।···· पंडित तो पुरोहितों से भी बुरे हैं क्योंकि वे और भी अज्ञानी हैं तथा अहंकारी भी हैं ····ब्राह्मण कौन हैं ? और किन अर्थों में वे हमसे भिन्न हैं । क्या उनके बीस हाथ हैं और क्या हममें कोई कमी है ? अब जब ऐसे सवाल पूछे जाए तो ब्राह्मणों को अपनी मूर्खतापूर्ण धारणाएं त्याग देनी चाहिए ; उन्हें यह मान लेना चाहिए कि सभी मनुष्य बराबर हैं तथा हर व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है ।"16

मराठी नवजागरण को चिपलुणकर ने राष्ट्रीय अस्मिता और राष्ट्रमुक्ति के सवाल से जोड़ने का कार्य किया । मूलत: साहि-

त्यक अभिरुचि के चिपलुणकर ने अपने साहित्य में तिलक और आगरकर के समान राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति की । इसके लिए उन्होंने "निबंधमाला" नामक पत्रिका निकाली जो कि आरंभ से महाराष्ट्र के राजनीतिक और साहित्यिक जगत में काफी चर्चित रहीं । इसमें उन्होंने दिन प्रतिदिन की समस्याओं का विश्लेषण किया। उन्होंने "निबंधमाला" पत्रिका में देश की वर्तमान स्थिति पर, जिसे "आमात्य देसाचि स्थिति" के नाम से आठ खण्डों में प्रकाशित किया गया, पर एक लेखमाला प्रकाशित करायी जिसमें निष्कर्ष रूप में कहा गया — "अंग्रेजी शासन द्वारा दमित हमारी स्वतंत्रता नष्ट हो गयी है, उनके शासन में हम दिवालिये हो गये हैं ।"[17] यह लिखकर उन्होंने भारत में अंग्रेजी उपनिवेशवाद के शोषक चरित्र को जनता के सामने रखा । चिपलुणकर में देश के "माडरेट" बुद्धिजीवियों की तरह का तत्व नहीं पाया जाता । उनकी विचारधारा में "एक्ट्रीमिस्ट " विचारधारा के तत्व मौजूद है । जिसमें अंग्रेजी उपनिवेशवाद की खुले शब्दों में निंदा की गई थी । उनके यहां देश भक्त का स्वर ज्यादा मुखरता के साथ प्रकट हुआ है । महाराष्ट्र के अन्य सुधारकों रानाडे, भंडारकर, गोखले, तिलक, कर्वे आदि ने राष्ट्रीय जागरण तथा समाज सुधार की परंपरा को आगे बढ़ाया । मराठी नवजागरण में भी राजभक्ति और पुनरुत्थान के तत्व पाये जाते हैं, जिससे मराठी की प्रगतिशील चेतना बाधित हुई ; तथा पुनरुत्थानवाद का स्वर मुखर हुआ ; मगर यह अलग विचार का मुद्दा है ।

मराठी नवजागरण की प्रगतिशील चेतना का उत्कर्ष ज्योतिना फुले के यहाँ मिलता है । समाज की दलित समाज समझी जाने वाली माली जाति पैदा हुए ज्योतिना फुले को, हिन्दू कर्म की जाति-व्यवस्था से गहराई से परिचित थे तथा जातिगत असमानता का उन्हें गहरा एहसास था, इसीलिए उनके विचारों अपेक्षाकृत अधिक उग्रता है ।

सत्यशोधक समाज के माध्यम से उन्होंने अपने विचारों को आगे बढ़ाया । जिसका उद्देश्य मात्र जातिगत असमानता तथा धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध ही संघर्ष करना ही नहीं था, उन्होंने समाज में महिलाओं की स्थिति तथा नारी-शिक्षा जैसे तत्वों को भी इसमें शामिल किया । महाराष्ट्र में नारी शिक्षा की शुरूआत करने का श्रेय फुले और उनकी पत्नी को दिया जाता है । तुलसीदास की चौपाई "ढोर, गवार, शूद्र, पशु, नारी सब हैं ताड़न के अधिकारी ।।" पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए फुले ने लिखा है – "अपनी कोख में नौ माह तक बच्चे का गर्भ पालनेवाली नारी-जाति पर गुर्राने वाले को अधकचरा, निर्लज्ज और धूर्त समझना चाहिए ।" फुले ने सबसे अधिक आलोचना ब्राह्मणवाद तथा ब्राह्मणों की,की तथा समाज को इस अध, पतन की स्थिति तक पहुंचाने के लिए उन्हें जिम्मेदार ठहराया । फुले के विचारों में राजभक्ति का स्वर ज्यादा दिखाई पड़ता है; इसका एकमात्र कारण उनकी पददलित स्थिति थी, जिसके लिए जिम्मेवार वे समाजव्यवस्था को मानते थे, क्योंकि अंग्रेजों ने चाहे जिस किसी भी कारण से उनको इस सामाजिक-बंधन से मुक्ति में सहायता की इसलिए उन्होंने साम्राज्ञी की प्रशस्ति गायी । फुले के विचारों का पूरे महाराष्ट्र में प्रचार नहीं हो पाया तथा यह पूना के आसपास तक ही सीमित रह गया । इसे फुले की कमजोरी मानी जाती है । मगर उनके विचारों ने जनता के बीच सुधार की प्रक्रिया की शुरूआत कर दी थी, इसकी परिणति अच्छी ही हुई ; तथा इससे समाज की दलित समझी जाने वाली जातियों में आत्म-सम्मान की भावना जगी, जिससे मराठी नवजागरण का आधार काफी विस्तृत हुआ ।

हिन्दी क्षेत्र में नवजागरण की शुरूआत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मानी जाती है । बंगाल और महाराष्ट्र के नवजागरण से भिन्न

हिन्दी क्षेत्र में नवजागरण का सामाजिक आधार अलग ढंग से विकसित हुआ । बंगाल के समान न तो यहां कोई "भद्रलोक" विकसित हो पाया और न ही मराठी-नवजागरण की तरह समाज-सुधारकों का कोई वर्ग विकसित हो पाया ; यहां नवजागरण का कार्य लेखक-वर्ग को ही सम्पन्न करना पड़ा। इसलिए हिन्दी नवजागरण के साहित्य में कुछ प्रगतिशील तत्व तो पाये जाते हैं, मगर व्यवहारिक स्तर, समाज-सुधार के आन्दोलन के अभाव में प्रगतिशील तत्व प्राय: नगण्य हैं । भक्ति आन्दोलन की प्रगतिशील परम्परा जिसका उत्कर्ष हम कबीर के साहित्य में पाते हैं; दुर्भाग्यवश उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण में उस रूप में विकसित नहीं हो पायी, जबकि बंगाल ने चैतन्य की परंपरा तथा महाराष्ट्री नवजागरण ने "महाराष्ट्र धर्म" के प्रगतिशील तत्वों को काफी हद तक आत्मसात कर लिया । समाज, धर्म तथा जातीय कट्टरता के प्रति उस तरह का दृष्टिकोण क्यों विकसित नहीं हो पाया, वह तो समाजशास्त्रीय अध्ययन की मांग करता है, मगर इसका एक कारण हिंदी क्षेत्र की सामन्ती समाज व्यवस्था में ढूंढा जा सकता है । ऐसा नहीं है कि हिन्दी क्षेत्र में राष्ट्रीय चेतना न विकसित हो पायी या समज तथा धर्म में व्याप्त रूढ़ियों की आलोचना नहीं की गई, फर्क सिर्फ इतना ही है कि १९वीं शताब्दी के हिन्दी नवजागरण का तेवर इस सम्बन्ध में थोड़ा मंद है । बाद के दौर में "राष्ट्रीयता" के स्तर वहां व्यापक चेतना जगी मगर अन्य तत्व पीछे ही रहे । इसी के कारण हिन्दी क्षेत्र का सामाजिक फलक ज्यादा विकसित नहीं हो पाया तथा यह एक खास वर्ग तक सीमित रह गया अर्थात् पढ़े-लिखे उच्चवर्गीय समूह तक, और इसे जनान्दोलन का रूप नहीं दिया जा सका ।

भारतेन्दु के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति करने वाले अनेक तत्व मौजूद हैं । भारत पर अंग्रेजी उपनिवेशवाद

की काली छाया ने उनको काफी उद्वेलित किया था । इस भारत की दु:खभरी हालत का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है — "जो भारत जग में रह्यो सब सों उत्तम देस । ताहि भारत में रहियो अब नहिं सुख को लेस" । भारतेन्दु ने समाज में स्त्रियों की स्थिति पर काफी कुछ लिखा है, नारी की पराधीनता, नवजागरण के दौर में एक ऐसा मुद्दा था जिस पर उस काल के लगभग सभी लेखकों ने विचार किया है । उन्होंने स्त्रियों में "सत्व की पहचान" के लिए स्त्री शिक्षा पर बल दिया । भारतेन्दु को हिन्दी क्षेत्र की जातीय एकता का प्रतिनिधि कहना भी अतिशयोक्ति न होगी । अपने बलिया वाले भाषण में उन्होंने कहा था "बंगाली, मरठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्रह्मो सब एक का हाथ एक पकड़ो ।" इससे भारतेन्दु की राष्ट्रीय एकीकरण की दृष्टि का पता चलता है ।

धर्म संबंधी अपने विचारों में भी भारतेन्दु धार्मिक कट्टरता के विरोधी थे तथा उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त अंधविश्वासों की आलोचना की । जन्मजात वैष्णव भारतेन्दु ने हिन्दू-धर्म में व्याप्त कट्टरता की तो आलोचना की तथा "हिन्दुओं के शास्त्र को पंसारी की दुकान" कहा । मगर इसमें क्रांतिकारी परिवर्तन की बात उन्होंने कभी स्वीकार नहीं की । बल्कि उन्होंने दयानन्द सरस्वती के मूर्ति पूजा विरोधी विचारों का विरोध किया । जाति के सवाल पर भी भारतेन्दु ने "सबै जाति गोपाल की" लिखकर इसकी खिल्ली उड़ाई मगर उन्होंने जातीय शुद्धता बनाए रखने पर बराबर जोर दिया; उन्होंने कायस्थों द्वारा जाति व्यवस्था में ऊपर आने की निन्दा की, "अंधेर-नगरी" नाटक में ब्राह्मण द्वारा जाति बदलने को दिखाकर अपने इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है । जाति संबंधी विचारों में उन्होंने वर्गस्थिति का समर्थन किया । बाद के दौर में भी हिन्दी

नवजागरण में वही प्रवृत्ति पायी जाती है । हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत तथा भारतेन्दु के समकालीन प्रतापनारायण ने राष्ट्रीय मुद्दों, धार्मिक जड़ता, स्त्री शिक्षा की स्थिति तथा समाज सुधार संबंधी अपनी अनेक बातों में प्रगतिशील होने के बाद भी जाति के सवाल पर उसी परम्परागत वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हैं । उन्हीं के शब्दों में "परमेश्वर करे पुरानी चाल भले प्रकार से सबको प्यारी लगने लगे और ब्राह्मण वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास नीति के पठन-पाठन में प्रीति करें । क्षत्रिय मात्र विद्या और वीरता के नाम मरें, वैश्य देश देशान्तर में गमनागमन करने कृषि वाणिज्य-वाद का प्रण धरें, शूद्र लोग बाबू बनने का चाव छोड़ सरल भाव से वर्णत्रयी की सेवा और अपनी-अपनी जाति के परंपरानुसार नाना प्रकार का शिल्प सुधार करके देश भाईयों के प्रयोजनीय पदार्थों का अभाव हरें ।" (प्रताप नारायण ग्रंथावली, पृष्ठ-380) इसके बावजूद भी रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण को बराबर प्रगतिशील ही सिद्ध करने की कोशिश की है । समाज सुधार संबंधी आन्दोलनों के पिछड़ेपन का कारण अंग्रेजी राज्य द्वारा सामंती तत्वों का समर्थन मानकर उन्होंने इससे बचने की कोशिश की है । क्या दोनों प्रवृत्तियों साम्राज्यवाद और सामंतवादी मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष नहीं चलाया जा सकता था ।

समाज-सुधारक के नाम पर हिन्दी क्षेत्र को स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसा सुधारक मिला । जातिपात, मूर्तिपूजा, धार्मिक - वाह्याउम्बर का विरोध करने के बावजूद दयानन्द ने हिन्दू पुनरुत्थान वादी तत्वों को भी अपने विचारों में स्थान दिया, जिसने बाद में हिन्दी क्षेत्र में साम्प्रदायिकता को काफी मजबूत किया । "दयानन्द के वेदों की ओर लौटो" के नारे में, चाहे इसमें जितनी भी मात्रा में राष्ट्रीय एकता तथा आत्मगौरव के तत्व हों, वह मुसलमानों और

ईसाइयों जैसी गैर हिन्दू जातियों को अपनी ओर नहीं खींच पाया । दयानन्द की स्थिति हिन्दी क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण नहीं थी, स्वयं भारतेन्दु को भी वे नहीं प्रभावित कर सके तथा हिन्दी नवजागरण मात्र कुछ मुद्दों तक ही सीमित होकर रह गया । नवजागरण का काल सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध व्यापक जागरण का काल है । इस दौरान अखिल भारतीय स्तर पर जातिगत असमानता समाज में स्त्रियों की दयनीय स्थिति तथा धार्मिक रूढ़ियों पर जमकर प्रहार किया गया । महाराष्ट्र में यह स्वर काफी तीव्र है । इसका कारण यह है कि महाराष्ट्र में नवजागरण का सामाजिक आधार काफी व्यापक था तथा इसमें समाज के उच्च वर्गों के अतिरिक्त अन्य वर्गों की भी भागीदारी थी । हिन्दी नवजागरण का सामाजिक आधार उस तरह नहीं बन पाया, जैसा कि महाराष्ट्र का था, हिन्दी नवजागरण का सामाजिक आधार समाज के शिक्षित उच्च वर्गों का ही था । ऐसा भी नहीं है कि हिन्दी नवजागरण में जातिगत असमानता समाज में स्त्रियों की दयनीय दशा पर विचार नहीं किया गया, यहाँ भी इस पर काफी विचार हुआ है, मगर "मर्यादा" की सीमा में यहाँ "मर्यादा" भंग का कोई प्रयास विधर्मी प्रयास माना गया, यह मर्यादा स्त्रियों के लिए परिवार की थी तथा शूद्रों के लिए वर्णाश्रम धर्म, इसका उल्लंघन यहाँ न कोई भी प्रगतिशील लेखक संकोच और सीमा के साथ ही करता है, कम से कम उन्नीसवीं शताब्दी तक यहाँ स्थिति है । महाराष्ट्र में यह स्थिति नहीं है वहाँ स्त्रियों के लिए शिक्षा प्रबन्ध ज्योतिना फुले के समय से ही शुरू को गया था, तथा ज्योतिना फुले की पत्नी ने उनके साथ मिलकर 1851 में ही लड़कियों के लिए स्कूल खोला था । इसी तरह का प्रयास बंगाल में "बेथुन" स्कूल के माध्यम से हुआ था, स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक ईश्वर चन्द विद्यासागर ने सरकारी स्कूल में निरीक्षक का कार्य करते समय 25 बालिका विद्यालयों की स्थापना की थी ।

हिन्दी नवजागरण में बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस बात को स्वीकार किया है कि हिन्दी क्षेत्र में स्त्री शिक्षा की स्थिति काफी निराशाजनक है, तथा उनका स्तर भी काफी नीचा है । इसी की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है "बंग और महाराष्ट्र देश में स्त्री शिक्षा का प्रसार और प्रान्तों की अपेक्षा बहुत अधिक है । बंग देश में स्त्रियां कविता करती हैं, उपन्यास लिखती हैं कालेजों में शिक्षा देती हैं और समाचार पत्रों में अच्छे-अच्छे लेख लिखती हैं ।"

(मई 1903 की सरस्वती में प्रकाशित)

इसके विपरीत हिन्दी क्षेत्र में 19वीं शताब्दी तक स्त्री शिक्षा का कोई पता नहीं मिलता । स्त्री शिक्षा के लिए भारतेन्दु ने 1874 में "बालाबोधिनी" पत्रिका निकाली थी, मगर उसमें भी मर्यादावाद ही था । 1909 में पहली बार इलाहाबाद में रामेश्वरी नेहरू ने प्रयाग महिला समिति का गठन किया था । और "स्त्री दर्पण" पत्रिका निकाली थी वह कुछ गंभीर प्रयास था जिसमें स्त्री के अधिकारों के लिए आवाज उठायी गयी । "स्त्री-दर्पण" के अलावा "गृह-लक्ष्मी" नामक पत्रिका के माध्यम से भी स्त्रियों की शिक्षा तथा उनके अधिकारों के लिए आवाज उठाई गई, बाद में यह कार्य सरस्वती और माधुरी ने किया । मगर ये प्रयास हिन्दी क्षेत्र में स्त्रियों की दशा को बहुत अधिक प्रभावित नहीं कर पावे । इसका प्रमाण यह है कि नवजागरण काल में हिन्दी क्षेत्र में कोई महिला नहीं दिखाई पड़ती । जबकि महाराष्ट्र में सावित्री बाई फुले तथा रमाबाई ने स्त्रियों की दशा में सुधार के लिए सराहनीय कार्य किया । हिन्दी क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति पर ध्यान देने वाला कोई संगठन भी नहीं मिलता । जब महाराष्ट्र और बंगाल में इस तरह के संगठन मौजूद थे महाराष्ट्र के "पुणे" में जी0के0 देवधर तथा रमाबाई ने मिलकर 1909 में "पूना

सेवा सदन" स्थापित किया, जिसके माध्यम से महिलाओं के उद्धार तथा उनके लिए रोजगार की मांग की गई । बंगाल में भी इस तरह का एक संगठन मौजूद था, जिसका प्रसार अखिल भारतीय स्तर पर, "भारत स्त्री मंडल" जिसकी स्थापना सरला देवी चौधरानी ने 1910 में कलकत्ता में की, यह संगठन भी स्त्री शिक्षा के प्रसार का अग्रणी संगठन था । इस तरह के संगठनों के अभाव तथा "स्त्रियों" को मर्यादा में बांधे रखने की प्रवृत्ति और पुरुष वर्चस्व ने हिन्दी क्षेत्र में स्त्री की स्थिति को बहुत ही दयनीय दशा में पहुंचा दिया ।

नवजागरण काल में हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत शूद्रों की स्थिति भी दयनीय थी । नवजागरण काल के लगभग सभी लेखकों ने राष्ट्रीय चेतना के विकास, धर्म में रूढ़िवाद पर प्रहार, स्त्रियों की स्थिति पर थोड़ा बहुत ही सही विचार तो किया मगर जाति के सवाल पर हिन्दी क्षेत्र में एक खतरनाक चुप्पी दिखाई पड़ती है । यहां इस संबंध में जिसने भी विचार किया है वर्णाश्रम धर्म की सीमा के अन्दर ही उसने सुधार की बात की है । जातिगत उत्पीड़न के विरुद्ध यहां के बौद्धिक वर्ग में विशेष उत्साह नहीं दिखाई पड़ता । स्थिति यह है कि प्रताप नारायण मिश्र जैसा विद्वान और जनजागरण काल की राष्ट्रीय चेतना का प्रखर वक्ता भी "शूद्रों को बाबू" बनने की इच्छा से काफी दुःखी दिखाई पड़ता है । दुख इस बात का है कि वर्णाश्रम की मर्यादा भंग होगी । यहां के साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं पर भी उच्चवर्गीय नेतृत्व होने के कारण समाज के निचले वर्गों की आवाज दब गई, उन्हें प्रसार का अवसर नहीं मिल पाया । "हीरा डोम" जैसे व्यक्ति को वहाँ साहित्य में स्थान मिला मगर क्या यह परम्परा कायम हो पायी - "क्या इसका एक कारण वह सांस्कृतिक आत्मबोध नहीं है जिसने हिन्दी प्रदेश की विपुल सर्जनात्मक परम्परा

को एक विशिष्ट साहित्यिक इतिहास के रूप में संवारा ।"

(पुरुषोत्तम अग्रवाल; तीसरा खंड, पृष्ठ-101)

जब कि देश के अन्य भागों खासतौर पर महाराष्ट्र, केरल और तमिलनाडु में ऐसी स्थिति नहीं थी । महाराष्ट्र में फुले ने अपने क्रांतिकारी विचारों से समाज में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता पर जमकर प्रहार किया और उस पर प्रश्न चिन्ह लगाए । उन्होंने कहा "ब्राह्मण शूद्रों से वेदों को छिपाते हैं क्योंकि उनमें यह जानने के संकेत मिलते हैं कि आर्य लोगों ने किस प्रकार उनका दमन किया ।" मगर दुर्भाग्य है कि हिन्दी क्षेत्र को ऐसा कोई सुधारक नहीं मिल पाया जिसकी यहां सबसे अधिक जरूरत थी ।

हिन्दी नवजागरण पर विचार करते समय हिन्दी-उर्दू के विभाजन पर विचार करना भी आवश्यक है । यहां इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि सौहार्द की भावना लेकर चली नव-जागरण की धारा अस्मिताओं की तलाश में इस तरह क्यों गुमराह हो गई । इस बात की छानबीन भी जरूरी है । "पारंपरिक अस्मिताओं के बीच वर्चस्व के ऐतिहासिक संघर्ष"[23] को समझे बिना, हिन्दी-उर्दू के इस विभाजन को जान पाना काफी मुश्किल है । अस्मिताओं की यह टकराहट हिन्दी-उर्दू दोनों में उसी अनुपात में मिलती है तथा इसको तार्किक आधार मिला । अंग्रेजी उपनिवेशवाद की शिक्षा नीति से उपजे पुनरुत्थानवाद से इसी की ओर कृष्णकुमार का संकेत है - "आत्मछवि की तलाश स्वतंत्र भारत के सपने का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थी और पुनरुत्थानवाद की यह भूमिका शिक्षा के लिए बहुत ही महत्व-पूर्ण साबित हुई क्योंकि शिक्षा ने औपनिवेशिक व्यक्तित्व के प्रसार के लिए एक औजार का काम किया था । औपनिवेशिक शिक्षा से असंतोष ने पुनरुत्थानवाद को उसके अनेक तार्किक आधारों में से एक आधार दिया । शैक्षिक पहल पुनरुत्थानवाद के प्रसार का एक प्रमुख

रास्ता बन गई ।" [24] वर्चस्व की इस लड़ाई में परंपरा के साथ बहुत कुछ काट-छांट भी दोनों समुदायों के बौद्धिक वर्ग को करनी पड़ी । हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने यह कार्य किया । इसके लिए शुक्ल जी ने "उर्दू से मुक्त शुद्ध हिन्दी के गद्य की खोज" की, क्योंकि ऐसा माना जाता था कि हिन्दी के शिष्ट साहित्य की परंपरा उर्दू में है । उर्दू को उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि - "जिसे उर्दू कहते हैं वह न तो देश की स्वाभाविक भाषा है, और न उसका साहित्य देश का साहित्य है, जिसमें जनता के भाव और विचार रक्षित हों ।"[25] यही प्रवृत्ति बाद में उर्दू में मिलती है जिसकी अभिव्यक्ति हम सर सैयद अहमद खां में पाते हैं । जिसमें वर्चस्व बनाये रखने के लिए अंग्रेजी हुकूमत की शरण ली गई है जिससे यह मामला और अधिक पेचीदा ही हुआ । हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में उस दौर में धार्मिक पृथकतावाद की प्रवृत्ति भी पनपी थी । मगर हिन्दी और उर्दू दोनों को भिन्न-भिन्न विचारों की अभिव्यक्ति करनेवाली भाषा के रूप में देखा जाता था । हिन्दी साम्राज्यवाद और अंग्रेजी से लड़ने के प्रतीक माध्यम के रूप में देखी जा रही थी जबकि उर्दू की तस्वीर एक ऐसे साधन के रूप में उभर रही थी जो मुस्लिम साम्राज्य को उसकी आत्मछवि के संरक्षण में मदद दे सकता था । उर्दू को अदालती भाषा बनाने का निर्णय लेकर अंग्रेजी प्रशासन ने उर्दू की सामाजिक छवि को पहले ही बिगाड़ दिया था और उपनिवेशवाद से लड़ने के औजार के रूप में उसके विकास को थोड़ा मुश्किल बना दिया था ।"[26]

इस प्रकार हिन्दी उर्दू के विभाजन के एक तो साहित्य की जाति को रोक दिया तथा इसने इसे ऐसे दो खानों में बाँट दिया जिससे "शिक्षित हिन्दू के आत्मबोध में हिन्दी राष्ट्रीयता की प्रतीक बन गयी थी और उर्दू उस राष्ट्रीयता को वर्तमान तथा अतीत में

मिली चुनौतियों की । ऐसी स्थिति की परिणति उस ऐतिहासिक फाँक में हुई जिसके चलते खड़ी बोली समकालीन शिष्ट संवाद की भाषा है लेकिन परंपरा से जुड़ाव की नहीं । साहित्य के इतिहास में नजीर को स्थान मिल सकता है, मीर को नहीं ।"[27] हिन्दी-उर्दू के विभाजन, में अस्मिता और पुनरुत्थानवाद का स्वर इतना घुला मिला है कि इसे पहचान पाना मुश्किल है ।

000

संदर्भ

1. आधुनिक भारत - विपनचन्द , पृष्ठ-144
2. आधुनिक भारत - विपनचन्द , पृष्ठ-145
3. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, रामविलास शर्मा, पृष्ठ - 13
4. -वही- पृष्ठ - 14
5. -वही- पृष्ठ - 33
6. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष - विपनचन्द, पृष्ठ-63
7. भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता - न्गुगी वा थ्योंगो पृष्ठ - 19
8. आलोचना, सं0 नामवर पृष्ठ-5
9. महावीर प्रसाद और हिन्दी नवजागरण - राम विलास शर्मा , पृष्ठ - 200
10. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि - ए0 आर0 देसाई पृष्ठ -110
11. -वही- पृष्ठ -114
12. -वही- पृष्ठ -191
13. -वही- पृष्ठ - 202
14. आधुनिक भारत - विपनचन्द, पृष्ठ -
15. -वही- -वही- पृष्ठ - 154
16. -वही- -वही- पृष्ठ - 152
17. द आग्रेसिव प्रीजेन्ट - सुधीरचन्द्र पृष्ठ - 18
18. ज्योतिना फुले रचनावली भाग-2, सं0 एल0जी0 मेश्राम "विमल कीर्ति"
19. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण - शंभुनाथ पृष्ठ-21

20. प्रताप नारायण ग्रंथावली , पृष्ठ-380
21. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग-7 , पृष्ठ -160
22. आधुनिक भारत - विपनचन्द्र , पृष्ठ -158
23. पुरूषोत्तम अग्रवार - तीसरा रूख पृष्ठ-99
24. कृष्णाकुमार का लेख {हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान} साम्प्रदायिक के स्रोत से
25. रामचन्द्र शुक्ल - हिंदी साहित्य का इतिहास पृष्ठ-283
26. सं0 अभय कुमार दुवे - साम्प्रदायिकता के स्रोत पृष्ठ-30
27. पुरूषोत्तम अग्रवाल, तीसरा रूख , पृष्ठ-102

000

अध्याय -4

मूल्यांकन जारी है

महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण नामक पुस्तक के माध्यम से रामविलास शर्मा ने हिन्दी जनवजागरण की संकल्पना प्रस्तुत प की है । इसके पहले नवजागरण की चर्चा प्राय: बंगाल नव - जागरण के संदर्भ में ही होती रही और हिन्दी क्षेत्र को प्रभाव ग्रहण तक ही सीमित माना जाता रहा । रामविलास शर्मा के इस प्रयास से हिन्दी क्षेत्र को इस धारणा से काफी हद तक मुक्ति मिली; तथा हिन्दी वालों के बीच आत्म गौरव की भावना जागृत हुई । हिन्दी को रामविलास शर्मा का यह महत्वपूर्ण योगदान है । मगर राम - विलास शर्मा की नवजागरण संबंधी अवधारणा अपने कुछ पूर्वाग्रहों वश सर्वस्वीकृत नहीं हो पायी, तथा इस पर अनेक सवाल उठाये गये । "मूल्यांकन जारी है" नामक शीर्षक के अन्तर्गत हम इसी का विश्लेषण करने की कोशिश करेंगे ।

रामविलास शर्मा के अनुसार "हिन्दी क्षेत्र में नवजागरण 1857 ई, के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है[1]।" इसकी उन्होंने छ: विशेषताएं बतायी है । इसमे एक प्रमुख विशेषता है" इस स्वा - धीनता संग्राम का सामंत विरोधी पक्ष" । इस पर आज भी इति - हासकारों के बीच विवाद है, तथा उनके बीच लगभग इस बात की स्वीकृति दिखाई पड़ती है कि सन् 1857 का स्वाधीनता संग्राम -

सामंती तत्वों द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए लड़ा गया था । इसलिए रामविलास जी का यह कथन काफी विवादास्पद है कि 1857 में किसानों ने सामंतो के विरोध में कोई मोर्चा बनाया था । इसके सामंती चरित्र की ओर संकेत करता हुआ रजनीपाम दत्त का यह कथन उल्लेखनीय है - " अपने मूल चरित्र और प्रमुख नेतृत्व की दृष्टि से 1857 का विद्रोह पुरानी रूढिवादी और सामंती - शक्तियों और गर्देदी से हठाये गये रजवाड़ो का अपने अधिकारों के लिए विद्रोह था क्योंकी उन्होंने नई व्यवस्था में अपने अधिकारों के विनाश की प्रक्रिया देखी । इस विद्रोह के प्रतिक्रियात्मक रूप के कारण ही इसे व्यापक जनसमर्थन नहीं मिल सका और इसकी असफलता लगभग अवश्यंभावी थी [2]।" इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 1857 के स्वाधीनता संग्राम में सामंती वर्ग स्थिति थी तथा इससे उसकी मंशा का भी पता चलता है । स्वाधीनता संग्राम का भारत में राष्ट्रीय चेतना जगाने मे जो योगदान है, उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता, मगर इसी मे सारे प्रगतिशील तत्वों को ढूँढ लेना थोड़ा ज्यादती है ।

डा० रामविलास शर्मा ने 1857 के साम्राज्यवाद विरोधी जागरण से भारतेन्दु युगीन साहित्य को जोड़ा है । तथा इसके लिए दो तत्वों को वे आधार मानते है - राष्ट्रीय स्वाधीनता का उद्देश्य और अंग्रेजी राज के स्वरूप की पहचान, ये दो ऐसे तत्व हैं जो भारतेन्दु युगीन साहित्य में मिलते हैं । इससे भारतेन्दु और

उनके समकालीन लेखकों की सही तस्वीर नहीं उभर पातीहै जो एक निष्पक्ष आलोचक से आशा की जाती है इस मूल्यांकन में भारतेन्दु दुगीन साहित्य के अन्तर्विरोधों पर पर्दा डालने की कोशिश की गयी है ।अंग्रेजीउपनिवेशवाद के प्रति भारतेन्दु का दृष्टिकोण हर समय एक सा नहीं रहा ऐसी आशा भी नहीं करनी चाहिए, मगर उनकी राजभक्ति के ऊपर पर्दा डालकर उनको हमेशा प्रगतिशील और राष्ट्रवादी सिद्ध करने की कोशिश की गयी है । अंग्रेजी उपनिवेशवाद के दौर में अखिल भारतीय स्तर पर कम से कम कांग्रेस की स्थापना से पूर्व सुधारवाद की प्रवृति ही पायी गयी है., भारतेन्दु इसके अपवाद नहीं थे । जैसा कि उनकी आरंभिक रचनाओं को देखने से पता चलताहै । जिसमें रानी विक्टोरिया की प्रार्थना करते पाये जाते है । रही प्रभाव ग्रहण की बात तो इस बात के पर्याप्त प्रमाण है जिससे भारतेन्दु के बंग्ला नवजागरण से संबंध की पुष्टि होती है साहित्य स्तर पर तो यह प्रभाव बहुत अधिक दिखाई पड़ता है, हिन्दी में नाटकों के अभाव की पूर्ति के लिए उन्होंने ने बंगाल से सहायता ली थी । इसी बात की ओर संकेत करते हुए"नाटक" शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा है-"अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है । आशा है कि काल की प्रभोन्नति के साथ ग्रंथ भी जनते जायेंगे और अपनी संपत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहनबंगभाषा के अक्षय रत्न

भण्डार की सहायता से हिन्दी बड़ी उन्नति करेगी[3]।" साहि - त्यिक तत्वों के साथ ही बंग्ला नवजागरण के सांस्कृति तत्वों के भी भारतेन्दु ने अगत्मसात किया, तथा इसके माध्यम से नवजाग - रण की चेतना को अखिल भारतीय स्तर पर प्रसरित करने में सहायता प्रदान की और हिन्दी क्षेत्र में राष्ट्रवादी विचारों का प्रसार किया। हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण की अलग पहचान बनाने के क्रम में इन तत्वों की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। इसी की ओर संकेत करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है "हिन्दी नवजागरण की विशिष्टता बतलाते के लिए सन् 1857 की राज्यक्रान्ति को उसका बीज मानना कठिन है। भारतेन्दु तथा उनके मण्डल लेखक सन् 1857 की राजक्रान्ति की अपेक्षा बंगाल के उस नवजागरण से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे जो उससे पहले ही शुरू हो चुका था। कारण यह कि भारतेन्दु और उनके मण्डल के लेखकों की दृष्टि में अंग्रेजी राज की चुनौती राजनीतिक से अधिक सांस्कृतिक थी और इस सांस्कृतिक संघर्ष मे बंगाल नवजागरण से अस्त्र-शस्त्र मिलने की संभावना अधिक थी[4]।" नवजागरण संबंधी मूल्यांकन में अगर इन बातो को भी शामिल कर लिया गया होता तो नवजागरण की और सटीक तस्वीर आ सकती थी, इसके अभाव में रामविलास जी नवजागरण संबंधी अवधारणा अधूरी सी लगती है। रहस्यवाद और औद्योगीकरण के विरोध की विचारधारा को हिन्दी में

क्रमशः बंगाल और गुजरात से आयी बुराई मानकर नवजागरण को हिन्दी मे क्रमशः बंगाल और गुजरात से आयी बुराई मानकर नव-जागरण संबंधी मूल्यांकन को रामविलास शर्मा ने जातीय आधार प्रदान दिया है । जो कि नवजागरण की मूल चेतना "तर्क" और संवाद कायम रखने की उसकी प्रवृत्ति को काफी हद तक प्रभावित करती है । वैसे भी रामविलास जी की हिन्दी जाति की अवधा-रणा में क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति को बढावा ही मिला है तथा इससे हिन्दी भाषी जनता में राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीय एकता की भा - वना को काफी क्षति पहुंची है । जिसकी रक्षा करना नवजागरण के पुरोधा अपना प्रमुख कर्तव्य मानते थे । इस संदर्भ में भारतेन्दु का बलिया वाला भाषण उल्लेखनीय है जिसमे उन्होंने कहा था बंगाली मराठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राहमण, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो" हिन्दी क्षेत्र मे राष्ट्रीय एकता की यह पहली उद्घोषणा है । इसकी रक्षा करने की कोशिश छोड़कर पहले तो रामविलास शर्मा ने अखिल भारतीयता को खंडित किया है तथा उनकी हिन्दी जाति की अवधारण के खतरे अलग ही । बंगाल" और "गुजरात" से आयी बुराई को छोड़ दे तो वहां से ऐसी बहुत सी बातें आयीं हैं जिससे नवजागरण की प्रक्रिया मजबूत ही हुई है । हम विवेकानन्द के विचारों की क्रान्तिकारिता, तथा गांधी जी अहिंसा और साम्प्रदायिकता के विरोध की उनकी रणनीति को भी ग्रहण कर सकते थे । औद्योगी करण का विरोध करने वाली विचारधारा गुजरात से आयी इसका

अर्थ यह है कि हम उद्योगीकरण की ओर इससे पहले बहुत तेजी से बढ़ रहे थे, गांधीवादी की उद्योगीकरण के विरोध के स्वर ने हमें इस विकास से रोक दिया मगर क्या यह सत्य है (1) आज भी इस क्षेत्र की "विकासित" अर्थ व्यवस्था तथा गरीबी के स्तर को देखकर तथा वहां से जहाँ से यह विचारधारा आयी उसके स्तर को देखकर इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । काश ! हम गांधी-वाद को ठीक से अपना पाते तो आज हिन्दी क्षेत्र पर इस तरह का आरोप भी नहीं लगता कि हिन्दी क्षेत्र से साम्प्रदायिक शक्तियों को बढ़ावा मिल रहा है, और शायद छः दिसम्बर की घटना भी नहीं होती । गुजरात से उद्योगीकरण की विचारधारा तो आयी मगर शायद हम उसे अपना नहीं पाये, अगर ऐसा होता तो आज हिन्दी क्षेत्र की आर्थिक स्थिति कुछ और ही होती । इसलिए गीरेबां में झांक कर देखने की जरूरत है, तथा अच्छे और खराब में फर्क करने की भी जरूरत भी है । सागर से मोती ढूंढने की जगह अगर हम खारा जल ही लेकर आएं तो उसमें भला क्या कहना ।

उर्दू को हिन्दी की ही एक शैली मानने वाले विद्वान रामविलास शर्मा ने अपनी नवजागरण संबंधी अवधारणा में उर्दू के साहित्य को क्यों नही शामिल किया यह सवाल बौद्धिक वर्ग में अभी भी उठाया जा रहा है । क्या उर्दू का साहित्य हिन्दी से कम प्रगतिशील था, या उसमें नवजागरण की प्रगतिशील चेतना का

प्रतिनिधित्व उस रूप में नहीं मिलता जैसा हम भारतेन्दु, प्रताप - नारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, या फिर आगे मैथिली - शरण गुप्त तथा निराला आदि के साहित्य में पाते हैं ।" क्या हाली, मीर, गालिब इनकी टक्कर में कहीं नहीं आते, अगर ऐसा नहीं है तो फिर हम इस साहित्य में नवजागरण की अभिव्यक्ति क्यों नहीं ढूँढ पाये । क्या हुई सिर्फ छोटी बहन का दर्जा पाने के लिए है या उसकी भी अपनी कोई पहचान है, अपना कोई साहित्य है । जैसा कि नामवर सिंह ने उर्दू की प्रगतिशील परंपरा का उल्लेख करते हुए कहा है " उन्नीसवीं सदी में बहुत हद तक हिन्दी उर्दू में धर्म निरपेक्षता की भावना थी । उर्दू में भी धर्म निरपेक्ष परम्परा रही है । गालिब सरशार या आबेहयात के लेखक मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद जिनके पिता गदर में शहीद हुए थे , या मुसद्दस के लेखक अलताफ हुसैन हाली आदि की गैर साम्प्रदायिक धारा[5]. मगर व्यवहार में हिन्दी उर्दू की एकता की बात करने वाले रामविलास शर्मा यह तो कहते है-"जहां तक हिन्दी उर्दू का संबंध है यह बात बराबर ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों के क्रियापद एक हैं दोनों के सर्वनाम एक हैं । इसलिए उपर वाले लोग चाहे जितना हिन्दी उर्दू को अलगाये लेकिन आम जनता उनको एक मानती है । फिल्मों में कहीं पता चलता है कि कहां हिन्दी है और कहां उर्दू है ? व्यवहार में हिन्दी उर्दू एक है ।"[6] क्या रामविलास शर्मा के इस कथन में विरोधाभास नहीं दिखाई पडता , जहां हिन्दी के जातीय साहित्य की बात आती

है । ऐसा करके रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण को हिन्दू नवजागरण सिद्ध करने वालों को एक आधार दे दिया है ।

1870 के बाद से ही उर्दू मे राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत साहित्य का सृजन होने लगा वह स्थिति अन्य सभी भारतीय भाषाओं की भी है । आजाद और हाली में राष्ट्रीय चेतना का स्वर आरंभ मे ही दिखाई पड़ता है । आजाद की इस उर्दू कविता में क्या हिन्दी के किसी लेखक से कम राष्ट्रीयता का भाव है -

अय आफ्तावे सुबहे वतन तू किधर है आज
तू किधर की कुछ नहीं आता नजर है आज

हाली ने अपनी कविता में वतन को विहिशते वदी §स्वर्ग§ परस्पर प्रेम और एकता के अभाव को और फूट को देश की वबादी का कारण बताया । उन्होंने देश वासियों का आहवान किया कि जागो होश संभालो, हुनर और कारीगरी सीखो -

अय वतन ! अय गिरे विहिशते वरी
क्या हुए तेरे आस्मानो जमीं
तुम अगर चाहते हो मुल्क की खैर
न किसी हम वतन को समझो गैर
हो मुसलमान इसमें या हिन्दू
बौद्ध मजहब हो या कि हो बहमू
सबको मीठी निगाह से देखो
समझो आंखो की पुतलियां सबको[7]

इस तरह के प्रगतिशील साहित्य जिसमे नवजागरण की प्रगतिशील धर्म निरपेक्ष भावना तथा राष्ट्रीय जागरण के तत्व को नवजागरण संबंधी विवेचन में न शामिल करके रामविलास जी हिन्दी नवजगारण की अधूरी तस्वीर ही पेश की है ।

हिन्दी नवजागरण की धर्मनिरेपक्ष शुरूआत 1857 से मानते समय रामविलास शर्मा इस बात की कोई नोटिस तक नहीं लेते कि बाद में हिन्दी क्षेत्र मे यह धार्मिक आधार पर क्यो बट गया एक तरफ हिन्दू "शुद्धिवाद" तथा दूसरी तरफ अलीगढ़ तहरीक में यह क्यों विभाजित हुआ । जिसके कारण बाद में हिन्दी नव - जागरण को हिन्दू नवजागरण से जोड़ने की कोशिश की गयी, जिस में वैदिक भारत के पुनरूत्थान की बात की गयी तथा उसे ही सर्वोच्च मान्यता दी जाने लगी, जब कि अखिल भारतीय स्तर पर इसका यह रूप नहीं है फिर हिन्दी क्षेत्र ही सम्प्रदायवाद का गढ़ क्यो बन गया ? जिससे हमारे धर्मनिरेपक्ष ढांचे को ही खतरा पहंचने की आशा है । ये कुछ ऐसे मुद्दे है जिनकी पड़ताल नवजागरण संबंधी मूल्यांकन के क्रम में होनी चाहिए थी । इसका एक कारण अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति भी हो सकती है, मगर हमारे समाजिक ढांचे में इस तरह के तत्व अधिक है जिनमे सुधार की आवश्यकताथी मगर यह हिन्दी क्षेत्र मे हो नहीं पाया, इसलिए हम पर ही साम्प्रदायिक होने का आरोप भी सबसे पहले लगा । इसी की संकेत करते हुए शंभुनाथ ने ठीक ही लिखा है हिन्दी प्रदेशो मे धर्म के ढांचे में सामाजिक क्रान्ति का काम सबसे कम हुआ इसलिए नवजागरण के दृष्टिकोण

से ये प्रदेश ही सबसे पीछे थे । जिस जमीन पर उपनिषदों के मंत्र उच्चरित हुए और गौतम बुद्ध ने अहिंसा की शिक्षा दी वहां राख के ढ़ेर सबसे अधिक खड़े हुए रक्त के फौव्वारे सबसे अधिक फूटे यह हिन्दी मानस की विडम्बना है और उसका भोलापन भी । सबसे सरल और निष्कलंक रहे हैं ये हिन्दी इसलिए सबसे अधिक छले गये है[8]।'

गौर तलब वह है कि पंद्रहवीं शताब्दी के लोक जागरण में ऐसा कोई भी तत्व नहीं है जिससे सम्प्रदायिकता की बू आती हो मगर उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण इस आधार पर साफ़ काफी हद तक विभाजित है तथा यह विभाजन काफी गहरा है । इसका एक मात्र कारण यह है कि हम अपनी जड़ो से कट गये है, तथा अपनी परम्परा को भूल गये हैं । इसके एवज में मध्यवर्गीय बौद्धिक वर्ग ने जो परंपरा गढ़ी है उसमे पुनरूत्थानवादी स्वर ज्यादा तीव्र है, तथा इस वर्ग में साम्प्रदायिक की भावना भी काफी गहराई तक जम गयी है । इस तरह से हमारा नेतृत्व ही गुमराह है, तो हम उससे दिशा निर्देशन की उम्मीद कैसे कर सकते हैं उससे इसके समाधान की कोई उम्मीद भी व्यर्थ ही है । हिन्दी नवजागरण के दौर मे आयी हिन्दी क्षेत्र मे साम्प्रदायिकता की समस्या और गहरे अध्ययन तथा ठोस निष्कर्ष की मांग करती है, जिसके लिए इस शोध -प्रबन्ध की सीमा में कुछ नहीं किया जा सकता मगर रामविलास शर्मा से यह आशा की जा सकती है कि वे अपने नव-जागरण संबंधी विश्लेषण के क्रम मे हिन्दू-मुस्लिम एकता के साथ ,

उसमें आयी अलगाववादी प्रवृत्ति की ओर भी थोड़ा संकेत होता तो अच्छा होता । मगर उसके अन्तर्विरोधों की पहचान रामविलास शर्मा ने की होती तो नवजागरण की ओर सटीक तस्वीर उभरती जिन अन्तर्विरोधों की ओर संकेत करता हुए यह कथन दृष्टव्य है - इसके पहले से चले आते हुए हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य हिन्दी उर्दू विवाद हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान के नारे तथा आर्य समाजी आन्दोलन के धर्मान्तरण के सवाल पर साम्प्रदायिक उभार के हिंसक लक्षण तथा हिन्दू महासभा नवजागरण अपने अन्तर्विरोधों मे बुरी तरह से फंस जाता है ।" इनको छोड़कर रामविलास जी ने नवजागरण की प्रगतिशील चेतना दिखाने के लिए अपने हिसाब से चयन किया है, इस कारण खंडित नवजागरण का रूप ही हमारे सामने उपस्थित हो पाता है ।

हिन्दी नवजागरण के प्रगतिशील दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए डा. रामविलास शर्मा ने महावीर द्विवेदी और हिन्दी नव - जागरण नामक पुस्तक में लिखा है - " 19 वी शताब्दी के अन्त में हिन्दी प्रदेश मे जो नवजागरण हुआ वह अन्य प्रदेशों के नव - जागरण से कई बातो में भिन्न है । वह रहस्यवाद और तर्क - विरोधी पुनरूत्थानवाद का समर्थक नहीं है । वह प्राचीन संस्कृति पर गर्व करना सिखाता है किन्तु उसके विवेकपूर्ण पुर्नमूल्यांकन पर जोर देता है ।"

डा. रामविलास शर्मा का यह कथन हिन्दी नवजागरण का यह कथन हिन्दी नवजागरण को जितना प्रगतिशील सिद्ध करने की कोशिश करता है उसमें सच्चाई का अंश बहुत ही कम है । हम इस बात पर बराबर जोर देते है कि हिन्दी नवजागरण का प्रगति - शील पक्ष अन्तर्विरोधो के बीच इतना घुला मिला है कि इसकी ठीक से पहचान नही की जा सकती है । एक तरफ भारतेन्दु का अन्तर्विरोध है जिसमे देशभक्ति के साथ राजभक्ति के तत्व है वहीं उनमें समकालीन प्रताप नारायण मिश्र मे भी जितनी मात्रा मे राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति होती है उसी मात्रा मे वे पुनरू - त्थान वादी भी है इसका एक रास्ता है हिन्दी हिन्दू, हिन्दुस्तान का उनका यह नारा तथा दूसरा पथ है वर्णाश्रम व्यवस्था को बनाये रखने की उनकी जिद जहां वह यह कहते पाये जाते हैं -

परमेश्वर करे पुरानी काल भले प्रकार से सबको प्यारी लगने लगे और ब्राहमणवेद शास्त्र पुराण इतिहास नीति के पठन पाठन मे प्रीति करें । क्षत्रिय मात्र विद्या और वीरता के नाम मरें वैश्य देश देशान्तर में गमनागमन करते कृषि वाणिज्यवाद का प्रण धरें शूद्र लोग बाबू बनने का चाव छोड़ सरल भाव से वर्ग त्रयी की सेवा और अपनी-अपनी जाति के परंपराके अनुसार नाना प्रकार का शिल्प सुधार करने देश-भाइयों के प्रयोजनीय पदार्थों का अभाव हरें[9] "प्रताप नारायण मिश्र के इस वैज्ञानिक । विवेचन मे कितनी प्रगतिशीलता है तथा पुनरूत्थानवादी प्रवृत्ति का किस प्रकार विवेकपूर्ण मूल्यांकन कियागया है, यह बात कोई पाठक पढ़- कर अच्छी प्रकार से जान जायेगा । ऐसा ही तथा इस तरह का

अनेक अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियां मिलती हैं, जिनका अध्ययन करने पर हिन्दी नवजागरण की प्रगतिशील चेतना की वास्तविक तस्वीर सामने आ सकती थी मगर इन तत्वों की अनदेखी की गयी । हिन्दी नवजागरण को दयानन्द सरस्वती जैसा समाज सुधारक मिला जो वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थक था तथा वेदों मे अपने संस्कृति की विरासत ढूँढने का हिमायती इससे भी नवजागरण के वास्तविक रूप का पता चलता है । बाद मे मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य मे जिस तरह की अतीतोन्मुखता झलकती है उसमे नवजागरण युगीन पुनरूत्थानवाद का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है । इन बातों का भी नवजागरण संबंधी विवेचन मे उल्लेख जरूरी था । जिसको रामविलास शर्मा ने ऐसे ही छोड़ दिया है ।

हिन्दी नवजागरण मे दलित चेतना की क्या स्थिति थी ? इस मुद्दे पर भी नवजागरण संबंधी विवेचन मे विचार की आवश्यकता थी, मगर रामविलास शर्मा जी ने इसे छोड़ दिया है तथा इसे मात्र साहित्य के नवजागरण तक सीमित करके देखा है । इस पर मैनेजर पाण्डेय की टिप्पणी दृष्टव्य है - " हिन्दी नवजागरण के मुख्य व्याख्याकार डा. राम विलास शर्मा ने उसे साहित्य का नवजागरण बना दिया है जब कि नवजागरण एक व्यापक राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया है[10]।" इसका क्या कारण है कि हिन्दी नवजागरण मे एक दो अपवादों को छोड़कर न तो दलितों

की दुर्दशा की विशेष चिन्ता है और न जाति प्रथा के विरूद्ध वैचारिक संघर्ष का कोई प्रयास । इसका कारण हिन्दी क्षेत्र की धार्मिक स्थिति तथा नवजागरण कालीन बौद्धिक पृष्ठभूमि मे ढूँढा जा सकता है । हिन्दी क्षेत्र आरंभ से ही धार्मिक क्षेत्र मे राष्ट्रीय स्तर पर दिशा निर्धारण का कार्य करता रहा है । यहां की सामंती व्यवस्था धार्मिक रूढियों को इस हद तक स्वीकार किए हुए है कि उसके विरूद्ध कोई भी आवाज बहुत ज्यादा प्रभावशाली ढंग से नहीं उठ पायी तथा यहां पर विरोध कारगर दबा दिया गया । हिन्दी क्षेत्र मे धार्मिक कट्टरता तथा जातिवाद का स्तर शुरू से ही अन्य जगहों से ज्यादा रहा है । इसीलिए यहां इसके विरोध की परंपरा भी बहुत पुरानी रही है । भक्ति आन्दोलन मे धार्मिक रूढियों और जातिवाद के विरूद्ध कबीर जैसे चेतना संपन्न सुधारक ने जबकर प्रहार किया मगर, उनकी आवाज भी बहुत देर तक नहीं टिक पायी, इस आन्दोलन को ब्राहमणवादी तत्वों ने आत्मसात कर इसमें फिर वही कट्टरवादी और जातिवाद समर्थक तत्वों को स्थान देना शुरू कर दिया जिससे यह प्रगतिशील परंपरा जो कबीर के रूप मे शरू हुई थी, काफी हद तक दबा गयी और वर्णाश्रम निज-निज धरम कहकर इसे सैद्धान्तिक जामा पहना दिया गया ।

उन्नीसवीं शताब्दी मे हिन्दी क्षेत्र मे नवजागरण की प्रक्रिया लेखक वर्ग द्वारा शुरू की गयीयहां कोई उस तरह का समाज सुधारक नहीं आ जैसी परम्परा महराष्ट्र, केरल, और तमिलनाडु में भी

इसलिए यहा लेखक वर्ग ने अपने वर्गीय हितों को ही ज्यादा तरजीह दी उसे समाज सुधार जैसे मुद्दों से विशेष मतलब नहीं था । हिन्दी क्षेत्र मे जातिगत आधार पर संस्थाओं का गठन किया गया मगर ऐसा उच्चवर्ग मे गिनी जाने वाली जातियों मे ही संभव हो पाया जैसे इलाहाबाद की कायस्थ महासभा । हिन्दी क्षेत्र मे नव-जागरण के पुरोधा कहे जाने वाले प्रतापनारायण मिश्र "ब्राहमण" नामक पत्र निकालते थ, उनसे तथा अन्य उन्हीं के जैसे तमाम सुधारको से वर्णाश्रम की निंदा की आशा तथा दलितो के अधिकारो के लिए उनसे संघर्ष की उम्मीद कैसे की जा सकती है । इसी की ओर संकेत करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने कहा है " हिन्दी नवजागरण का तथाकथित बुद्धिवाद जाति प्रथा जैसी खूँखार शोषक और दमनकारी सामाजिक व्यवस्था का सामना करते से बचता रहा है । यही नहीं हिन्दी नवजागरण की प्रगतिशीलता जाति प्रथा के सामने कुंठित नजर आती है सच बात यह है कि हिन्दी नवजागरण के अनेक अग्रदूत घूमाफिराकर जाति व्यवस्था का समर्थन ही करते है यह अकारण नहीं है कि हिन्दी नवजागरण मे अधिकांश सवर्ण जातियों के नाम से पत्रिकाएं निकली रही ।।।"

हिन्दी नवजागरण में दलितों के जागरण की कुछप्रवृत्तियां बीसवीं शताब्दी में ही जाकर दिखाई देती है । इस दौरान उ० प्र० के जानेपुर जिले में चला शिवनारायण सम्प्रदाय का आन्दोलन सुधार की प्रक्रिया लेकर चला था, मगर इसने क्षत्रिय स्थिति

की मांगकर अपने को संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से जोड़ लिया । मगर इसका अस्तित्व समाप्त हो गया । दलित सुधार के आन्दोलन दक्षिण भारत मे ज्यादा उग्र रहे तथा इसके माध्यम से वहां व्यापक चेतना आयी तथा दलितो के बीच आत्म सम्मान की भावना जगी । केरल मे यह कार्य नारायण गुरू नामक संत समाज सुधारक ने किया उन्होंने "श्री नारायण धर्म परिपालन योगम" की स्थापना 1903 मे की जिसका उद्देश्य मंदिर प्रवेश तथा समानता के अधिकारो की स्थापना करना था । नारायण गुरू ने एक ईश्वर की बात कही मानव जाति के लिए उन्होने एक ईश्वर एक जाति तथा एक धर्म का प्रसिद्ध नारा दिया । हालांकि बाद मे यह आन्दोलन भी संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से गुजर कर जाति व्यवस्था मे उच्च स्थान की मांग करने लगा मगर इसका स्वर बहुत ही उग्र था ।

तमिलनाडु मे दलित उद्धार का कार्य इ.वी रामास्वामी नायकर ने किया उन्होने आत्मसम्मान आन्दोलन के माध्यम से जातिगत रूढियो का जमकर विरोध किया । अपने पत्र "कुडि - आरसु" के माध्यम से सुधार वाद के स्वर को और अधिक विस्तार दिया । नायकर का मानना था धर्म की क्रूरतायें ही उनकी अवनति का सबसे बड़ा कारण है, इसे उखाड फेकने की मुहिम उन्होंने चलायी । दलितो के उद्धार के साथ-साथ उन्होंने महिलाओ की दयनीय स्थिति पर भी विचार किया तथा हिन्दू विवाह पद्धति को

स्त्रियो का दासी बनाने के रूप मे देखा । तथा स्त्रियो के आर्थिक अधिकारो तथा उनके लिए व्यवसायिक शिक्षा की मांग भी नायकर ने उठायी । पेरियार पुले की तरह ही जाति और धर्म के बीच कोई भेदभाव नही करते थे ।

हिन्दी क्षेत्र में इस तरह का कोई आन्दोलन दुर्भाग्यवश नही चल पाया । समाज सुधारक के रूप में हिन्दी क्षेत्र को दयानन्द सरस्वती मिले: जिन्होने मूर्तिपूजा विरोध, स्त्री-पुरूष की बीच समानता की बात तो कही मगर उनके पुनरूत्थानवादी विचारो से दलित वर्ग का कोई भला नही हो पाया । वर्ण व्यवस्था को बनाये रखकर जातिपात का विरोध करने की कोशिश उन्होंने की अस्वीकार के साहस के अभाव मे उन्होंने इस दिशा में कोई क्रान्तिकारी प्रयास नही किया । शिक्षित वर्ग द्वारा जातिप्रथा के मार्यादित विरोध ने जो कुछ लेखको के यहां ही मिलता है ने भी इस वर्ण की स्थिति मे कोई विरोध परिवर्तन नहीं किया । यथास्थिति बनाये रखने की यहां बराबर कोशिश कीगयी, जिसके कारण हिन्दी क्षेत्र का एक व्यापक समूह नवजागरण की प्रक्रिया का कुछ भी लाभ नहीं उठा पाया उसके लिए हिन्दी में कोई नवजागरण हुआ ही नहीं मगर नवजागरण की परिकल्पना करने वाले विद्वान इसे अखिल भारतीय स्तर पर श्रेष्ठ नवजागरण मानने का इस तरह से मन बना चुके है कि उन्हे ये सब चीजे दिखाई ही नही पडती नाटक, उपन्यास कहानी, और अखबारो का संपादन ही अगर नव-

जागरण है तब तो हिन्दी में नवजागरण माना जा सकता है, अगर इसमे समाज सुधार, धार्मिक कट्टरता की समाप्ति जाति पात के भेदभाव की समाप्ति स्त्रियो के अधिकारो के लिए संघर्ष करने और इसमे परिवर्तन की बात उन शामिल की जायेगी तब हिन्दी नवजागरण की अवधारण कटघरे मे होगी, क्योंकि इसमे ऐसा कुछ नही है ।

नवजागरण काल में ब्रिटीश संस्कृति से अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए नवजागरण कालीन लेखको ने अतीत की अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता का गुणगान किया है । और इसके माध्यम से अपनी अस्मिता को बचाये रखने की कोशिश की मगर क्या अतीत अनुराग हमेशा प्रगतिशील ही रहा ? इस बात पर चर्चा भी यहां अत्यन्त आवश्यक है । यह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि आज पुनरूत्थानवादी शक्तियां उसमे अपना आधार ढूँढकर भारतीय धर्मनिरपेक्ष चरित्र को चोट पहुंचाने की कोशिश कर रहा है । भारत की खोज मे अतीत की स्वर्णमयी कल्पना हिन्दू और मुसलमान दोनो समुदायो ने की । यह कार्य हिन्दू धर्म के लिए भारत-भारती" के माध्यम से मैथिलीशरण गुप्त ने तथा मुखद्दस के माध्यम से हाली" ने सम्पन्न किया । इन दोनो पुस्तको में हमारी संस्कृति के मुख्य आधारो का परिचय देने की कोशिश की गयी है ।

हाली ने 1857 के बाद से मुस्लिम शासन के अन्त पर चिन्ता व्यक्त की है । तथा इसमे मुस्लिम अतीत की और बहुत सी बातो को याद किया गया है जिनका नाश अंग्रजी सरकार द्वारा हो गया है यहाँ आरंभ में हाली" का स्वर पुनरूत्थानवादी दिखाई पड़ता है । मगर बाद में नवीन परिस्थितियो से साक्षात्कार के साथ हाली के स्वर में परिवर्तन आ गया तथा उन्होंने किसानो और मजूदरो की ओर भी ध्यान देना शुरू किया । जैसा कि उन्होने लिखा है -

वो थकता है और चैनपाती है दुनियां
कमाते है वह और खाती है दुनियां ।

हाली का मुसद्दस अहं के भाव से एक दम मुक्त है । जैसा शमशेर बहादुर सिंह का कहना है " अहं का भाव इस पूरे "मुसद्दस" में कही नहीं उठता । हाली मे किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता की बू तक हमे नही मिलती[12]।"

हिन्दू धर्म के लिए गौरवमयी अतीत की खोज भारत भारती के माध्यम से मैथिलीशरण गुप्त ने की है । आस्मिता की तलाश में क धर्म की शरण मे जाने की प्रवृत्ति उस दौर के सभी लेखको में है मगर उसके प्रति उनका दृष्टिकोण कैसा है आलोचनात्मक रूख है कि यथास्थितिवाद को बनाये रखने की कोशिश इसी की ओर संकेत करते हुए पुरूषोत्तम अग्रवाल ने लिखा है " गुप्त जी का समय उन्नीसवी सदी के सांस्कृतिक नवजागरण की चिन्ताओ के ऐतिहासिक विकास का समय है । इसीलिए उनकी राष्ट्रीय -

चेतना के मूल्यांकन का मूलभूत प्रतिमान यही हो सकता है कि उनमे सांस्कृतिक नवजागरण की किन चिन्ताओ का विकास और विस्तार हुआ ? हिन्दू और भारतीय का समानाधीकरण घटा या और ज्यादा बढा ?" भारत भारती का इस दृष्टि से मूल्यांकन करना बहुत ही प्रासंगिक है खास तौर से आज की चुनौतियों के संदर्भ मे । भारत भारती मे गुप्त जी ने गौरव नयी अतीत के विखंडन पर गहरी चिंता जतायी है । यह कहते हुए -

"आओ विचारे आज मिलकर ये समस्याएं सभी
हम कौन थे क्या हो गये है और क्या होंगे अभी ।"
भारत-भारती

इस विचार के क्रम मे गुप्त जी प्रगतिशील ढंग से सोचने की वजाय जाति व्यवस्था वर्णव्यवस्था मे दोष पर ज्यादा विचार किया है । और देश दशा पर आसू बहाये है । भारत-भरती में गुप्त जी ने सनातनी हिन्दू धर्म को प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है । इसी की ओर संकेत करते हुए शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा है " बहुत कुछ मनुस्मृति सनातनी पक्ष भी लिए हुए एक प प्रगतिशील समन्वय के रूप मे उसी की भावुक प्रतिध्वनि है ।"

भारत भारती मे सार रूप में अतीत की पुनरूत्थानवादी व्यवस्था ही की गयी है तथा हिन्दू धर्म को गौरवान्वित ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है जब कि समय इसकी छूट नहीं

देता । इसी तरह का प्रयास वर्तमान मे निर्मल वर्मा ने किया है । जिसमे हिन्दूवाद की गूज दूर-दूर तक सुनायी पडती है । निर्मल - वर्मा ने लिखा है "किसी हिन्दू की अस्मिता यूरोपीय के वरक्स आत्म की स्वायत्त सत्ता मे नहीं बल्कि विश्वासों अनुष्ठानों और जातिगत दायित्वों की उस वृहत्तर बनावट में वास करती थी जिससे उसके धर्म का गठन होता था[13]।" आत्म मोह में लीन निर्मल वर्मा ने अनुष्ठानों और जातिगत दायित्वों की बात की है वह उस सनातनी दृष्टिकोण से तनिक भी कम नहीं है जिसकी गूँज भारत-भारती मे सुनाई पड़ती है । इस कथन पर टिप्पणी करते हुए पुरूषोत्तम अग्रवाल ने कहा है " लोभ-लुभावन शब्दावली के सहारे वे सबसे पहले तो भारतीय को ही हिन्दू का वाचक बना देते हैं फिर हमारे सामाजिक अनुभव में मौजूद अन्याय और शक्ति संघर्ष के सवालों को गायब कर भारतीयता की ऐसी इकहरी अव-धारणा को बहुत सजा सवांरकर पेश करते है जो कुल मिलाकर उस अन्याय को जारी रखने वाले सत्ता तंत्र का महीन से महीन समर्थन दे सके ।[16]

इस तरह की सच्चाई को जाने बिना नवजागरण की कोई भी अवधारणा व्यर्थ होगी, बौद्धिक वर्ग के निहितार्थों तथा उसके द्वारा की गयी कोई भी सांस्कृतिक व्याख्या नवजागरण के प्रगति-शील तत्वों को बढावा दे रही है या प्रतिगामी ताकतों को प्रश्रय। बिना इसे समझे हम न तो नवजागरण की प्रक्रिया को ठीक से व्याख्यायित कर पायेंगे और न ही नवजागरण के प्रगतिशील संदेश को ही आम जनता तक पहुंचा पायेंगे ।

.....

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नव-जागरण (दिल्ली 1989) पृ.सं. 9
2. ए0आर0 देसाई: भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि (दिल्ली, 1988) पृ.सं. 24
3. शंभुनाथ भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, (कलकत्ता) पृ. 51
4. आलोचना (अक्टू-दिस. 1986) पृ. 6
5. समीक्षाठाकुरकहना न होगा (दिल्ली 1996)
6. पहल
7. अयोध्या सिंह: भारत का मुक्ति संग्राम (दिल्ली 1987) पृ.
8. पुरूष पृ. 47
9. प्रतापनारायण ग्रन्थावली पृ. 380
10. युद्धरत आम आदमी (जुलाई-सितम्बर 95) पृ. 188
11. वही पृ. 189
12. कुछ गद्य रचनाऐ सं मलयज, संभावना प्रकाशन, हापुड पृ.
13. पुरूषोत्तम अग्रवाल, तीसरा रूख, पृ. 138
14. कुछ गद्य रचनाऐ सं. मलयज, पृ.
15. निर्मल वर्मा, भारत और यूरोप:प्रतिश्रुति के क्षेत्र की खोज, पृ. 41
16. पुरूषोत्तम अग्रवाल, संस्कृति:वर्चस्व और प्रतिरोध, पृ. 22

संदर्भ सूची

1. अभय कुमार दूबे (सं) : साम्प्रदायिकता के स्रोत
विनय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

2. अयोध्या सिंह : भारत का मुक्ति संग्राम
मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली 1987

3. ए0 आर0 देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि
(मैकमिलन प्रकाशन दिल्ली : 1988)

4. नामवर सिंह : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ
(लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1991)

5. पुरुषोत्तम अग्रवाल : तीसरा रुख़
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1996

6. : संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1995

7. विपन चन्द्र (सं0) : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
(हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, 1990)

8. भारत यायावर §सं0§ : महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1996

9. मलयज §सं0§ : शमशेर बहादुर सिंह की कुछ गद्य रचनाएँ
संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1989

10. मैनेजर पाण्डेय : साहित्य और इतिहास दृष्टि
पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, 1981

11. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
सं 2051 वि0 §उन्तीसवां संस्करण§

12. रामविलास शर्मा : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1977
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1989

13. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1991

14. निर्मल वर्मा : भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1991

15. समीक्षा ठाकुर (सं0): कहना न होगा
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1995

~~दूसरे नवजागरण की ओर~~

16. Sudhir Chandra – The Oppressive preasent
Oxford Paper back, Delhi.

17. P.C. Joshi (Ed.) – Revellion 1857.
Delhi.

पत्र/पत्रिकाएँ

1. आलोचना - अक्तूबर-दिसंबर 1986 (दिल्ली)

2. हंस - फरवरी 1996 (दिल्ली)

3. धर्मयुग - 10 मई 1987 (दिल्ली)

4. पहल - 51-52/ 53 (1996), जबलपुर (म0प्र0) (1995)

5. युद्धरत आम आदमी - जुलाई-सितम्बर 1995, हजारीबाग (बिहार)

...